जीवन विवेचन

भाग–३

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन
(कैसेट नं. 21 से 30 तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन–मथुरा

जीवन विवेचन

भाग ३

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन

(प्रवचन संख्या ४३ से ६२ तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ
वृन्दावन - २८११२१ (मथुरा)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : दिसम्बर, १९९१
द्वितीय संस्करण : अगस्त, १९९७

मूल्य Rs 30 -- [redacted]

मुद्रक :
चित्रलेखा
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन • दूरभाष : ४४२४१५, ४४३४१५

ॐ

प्रार्थना

(प्रार्थना, आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृत-कृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ सं०
प्रवचन ४३	५
प्रवचन ४४	१४
प्रवचन ४५	२७
प्रवचन ४६	३६
प्रवचन ४७	४८
प्रवचन ४८	६१
प्रवचन ४९	७१
प्रवचन ५०	८४
प्रवचन ५१	९५
प्रवचन ५२	१०६
प्रवचन ५३	११६
प्रवचन ५४	१३१
प्रवचन ५५	१४३
प्रवचन ५६	१५५
प्रवचन ५७	१६७
प्रवचन ५८	१८०.
प्रवचन ५९	१९१
प्रवचन ६०	२०३
प्रवचन ६१	२१५
प्रवचन ६२	२२८

प्रवचन

(43)

पूज्य संत महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम लोग इस प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि जीवन की सच्ची बातों को सच्ची कह कर स्वीकार कर लेने के बाद भी उसके अनुसार जीवन क्यों नहीं बनता ? अपने भीतर के विकारों को देखकर उनको नापसन्द करने के बाद भी असाधनों का त्याग हम क्यों नहीं करते ? बुराइयों का त्याग हम क्यों नहीं करते ? इसका एक उत्तर ऐसा मिलता है मनोवैज्ञानिक स्तर पर कि मस्तिष्क और हृदय का समान रूप से विकास नहीं होता। मस्तिष्क का कार्य है बुद्धि। विवेक के प्रकाश में बुद्धि इस बात को देख लेती है कि क्या सही है, क्या गलत है। बुद्धि का विकास इतना हो गया कि विवेक के प्रकाश में देखकर सत् और असत् का विवेचन कर लिया गया। लेकिन उसी अनुपात में यदि हृदय का विकास नहीं हुआ तो मार्ग दिखाई देने पर भी चलने की शक्ति नहीं मिलती।

विवेक के प्रकाश में मार्ग दिखाई देता है और हृदयशीलता में गति आती है। एक होता है गतिमान होने का force (शक्ति) और एक होता है सही-गलत विचार करने का प्रकाश। प्रकाश में हम देखते हैं और गति में जीवन आगे बढ़ता है।

पिछले दो-तीन दिनों से हम साधक भाई-बहिन इस पर विचार कर रहे हैं कि सद्ग्रन्थों का पाठ किया तो बहुत-सी अच्छी-अच्छी बातें जानकारी में आ गईं। जानकारी में तो आ गईं, लेकिन अब उनका

अनुसरण करने में देर हो रही है, तो बाधा क्या है ? बाधा यह है कि बौद्धिक विकास जितना हो गया है उतना हृदय का विकास नहीं हुआ है। अब क्या करें ?-यह वर्तमान का प्रश्न है। कैसे दोनों ही शक्तियां इतनी विकसित हो जायें कि असत् को असत् जानकर उसका त्याग कर दें और सत् को सत् मानकर उसको स्वीकार करलें ? इतनी-सी बात है। सभी साधकों के सामने, सभी देशों में, सभी युगों में, बस यही एक बड़ा प्रश्न है जिसका हम सभी भाई-बहिनों को हल निकालना है।

श्री महाराज जी की वाणी में हम लोगों ने सत्युग के भक्त प्रह्लादजी की कथा सुनी। प्रह्लादजी को देखने को मिला कि बुढ़िया माई जप कर रही है, भगवान को याद कर रही है। जब कुम्हार का आँवा खोला गया तो उसमें से बिल्ली के बच्चे जिन्दा निकल आये। प्रह्लादजी ने सोचा, आज तक तो मैंने अपने बाप की महिमा सुनी थी। सब लोग उन्हीं के गीत गाते, उन्हीं का नाम लेते हैं, उन्हीं की आज्ञा में रहते थे। लेकिन कितना भी बलवान मेरा बाप हो, यह सामर्थ्य उसमें नहीं है कि जलती हुई आँवा में से बिल्ली के बच्चों को जिन्दा निकाल दे। ऐसा मालूम होता है कि मेरे बाप से अधिक बलशाली कोई है जो अनहोनी बात भी कर सकता है। ऐसा सोचकर उन्होंने राम की महिमा स्वीकार कर ली। उन्होंने स्वीकार कर लिया कि सबसे बलवान् और सबसे महिमावान् जो है, वह राम है, और तो कोई हो ही नहीं सकता। इस सत् की स्वीकृति का यह बड़ा भारी फल हुआ कि उनके जीवन में से भय, चिंता और संसार की पराधीनता खत्म हो गई।

इसी प्रकार अनेक भक्तों के जीवन में आपने देखा होगा, सुना होगा कि उनके सामने एकबार संसार की नश्वरता प्रमाणित हो गई, तो उन्होंने हमेशा के लिए उसकी पराधीनता को छोड़ दिया। एक बार उसके कान में यह ध्वनि पड़ गई कि सर्वसमर्थ प्रभु तुम्हारे अपने हैं, अपने में हैं, सदैव हैं, अभी हैं, सभी के हैं, वे ही सबके रक्षक हैं, वे आनन्दस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, दीनबन्धु हैं, करुणासिंधु हैं। ये सब एक ही बार सुनने को मिला और उन्होंने सुनकर मान लिया।

अब हम लोगों को क्या करना चाहिये ? हमने प्रभु की महिमा को भी अनेक बार सुना, लेकिन आज तक केवल उन्हीं में विश्वास जमा नहीं। हम लोग प्रभु को महिमावान् मानते भी हैं और उसके बाद घटिया चीज में भी विश्वास करते हैं। यह दशा है न ? तो अब इस दशा को मिटाना है। हृदयशीलता को बढ़ाना है। प्रेम-पक्ष को सबल बनाना है।

अनुभवी संत ने यह सलाह दी कि भाई देखो, अपनापन जो होता है मनुष्य के जीवन में, उससे प्रेमभाव की वृद्धि होती है। सबसे अधिक व्यक्ति अपने को पसन्द करता है, अपने को प्यार करता है। ज्ञान पंथ के साधक जो नाशवान् से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, अपने आपमें संतुष्ट होते हैं। उनके भीतर भी आनंद और प्रेम की बाढ़ आती है जो आत्मरति कहलाती है। वह बहुत ऊँची चीज है। अपनेपन का भाव जो मनुष्य के जीवन में है, यही प्रेम का आधार होता है।

अगर नाशवान् के साथ तुम अपनेपन का नाता जोड़ोगे तो पवित्र-प्रेम का तत्त्व जो है, वह आसक्ति का रूप धारण कर लेगा। आसक्ति के फलस्वरूप भीतर-भीतर नीरसता बढ़ती है। नीरसता से हृदय पक्ष कुंठित होता है। जीवन सत्पथ पर गतिमान नहीं होता है। परन्तु जो सभी के हैं, सदैव हैं, सर्वत्र हैं, प्रेमस्वरूप ही हैं, अपनेपन के भाव के अतिरिक्त दूसरी कोई बात हम लोगों से न चाहते हैं, न माँगते हैं, न आशा रखते हैं, उन परम प्रेमास्पद परमात्मा को मानव हृदय का अपनापन चाहिये और कुछ नहीं चाहिये।

संत की सलाह है कि हृदय की नीरसता का नाश करना हो, अभाव को मिटाना हो, जीवन को सरस बनाना हो तो रस स्वरूप परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करो। वे स्वयं रस के अथाह सागर हैं। उनसे अपनापन मानो। अपनेपन के प्रभाव से उनकी ओर से प्रियता, उनकी ओर से प्रेम का रस आ करके तुम्हारे जीवन को भर देगा तो जन्म-जन्मान्तर की नीरसता का नाश हो जायेगा। परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति मात्र में हमारा पुरुषार्थ है। उनकी ओर

से सम्बन्ध कभी टूटता ही नहीं, उनको विस्मृति हुई ही नहीं। मेरे विमुखता-काल में भी उनके साथ मेरा सम्बन्ध कभी टूटा नहीं था। आज भी नहीं टूटा है। परन्तु मैंने उनको अपना मानना छोड़ दिया, मुझमें विस्मृति हो गई तो मेरी दुर्दशा हो गई। मेरी विस्मृति के कारण उनका प्रेम मेरे अनुभव में नहीं आ रहा है। उनके अपनेपन की स्वीकृति के प्रभाव से मनुष्य का हृदय सरस होने लगता है, रस की वृद्धि होने लगती है। उसको पता ही नहीं चलता कि कब उसके जीवन में रस अपने आप इतना बढ़ गया कि बाहर की सब बातें बिल्कुल ही निस्सार हो गईं और सबसे लगाव टूट गया और सबसे सम्बन्ध छूट गया, जीवन साधन-पथ पर गतिमान होकर कितना आगे बढ़ गया। प्रभु विश्वासी साधकों को और कोई दूसरा नया प्रयास नहीं करना पड़ता है।

हम सभी भाई-बहन जो ईश्वर में विश्वास करते हैं और विश्वास के आधार पर आगे बढ़ना चाहते हैं, जीवन की नीरसता का नाश करना चाहते हैं, उन सभी के लिये बड़ी जरूरी बात है कि थोड़ी-थोड़ी देर के लिये अकेले में बैठें और जिसकी सत्ता स्वीकार की है, जिसको अपना माना है, जिसके प्रेमरस से जन्म-जन्मान्तर के ताप को हम लोग शीतल करना चाहते हैं, उससे प्रार्थना करें। उन्हें पुकारें और उनसे कहें कि हे प्रभु ! आपको मैंने अपना माना है, मेरी इस मान्यता को सत्य कीजिये, सार्थक कीजिये। मेरा विश्वास है कि प्रभु उस माने हुए सम्बन्ध का बड़ा आदर करते हैं और हमारी बड़ी बहादुरी मानते हैं। है भी यह बहादुरी की बात। बिना देखे, बिना जाने हुए पर, बिना किसी शर्त के समर्पित हो जाना बड़ी हिम्मत की बात है। मनुष्य की इस बहादुरी पर परमात्मा रीझ जाते हैं। साधक का काम बन जाता है।

अब देखना यह है कि ईश्वर विश्वासी होने के बाद हमारे हृदय में भाव की इतनी गहराई है कि नहीं, कि जब हमें एकान्त में बैठने को मिले और जब हम जगत् की सेवा के रूप में उनकी क्रियात्मक पूजा से अलग होकर अकेले हो जावें तो उस भावात्मक पूजा की घड़ी में

प्यारे प्रभु की इतनी याद आती है कि नहीं कि उसमें सारे अनित्य सम्बन्ध डूब जायें ? सबकी विस्मृति हो जाये ? यदि ऐसा होता है तो उत्तम बात है। भक्ति पंथ की साधना सध गयी। फिर अपने को कुछ भी करना शेष नहीं रहा। प्रिय की याद की मधुरता एवं सरसता में जीवन स्वयं ही प्रवाहमान होकर उद्‌गम से जा मिलेगा। यह अनुभवी संतजनों का अनुभवसिद्ध सत्य है।

अब अपनी वर्तमान दशा देखने से ऐसा लगता है कि भगवत् स्मृति अपने लिए सहज नहीं है। इस कमी को दूर करने का प्रयास हमें करना होगा। क्या करें ? उपाय अनेकों हो सकते हैं। इस समय मुझे ऐसा सूझ रहा है कि व्यक्तिगत सत्संग के समय अपने को खूब अच्छी तरह समझा लिया जाए, निश्चय किया जाए। मदद मिलेगी अवश्य।

सोचिये तो सही। दूर देश में रहने वाले अनित्य सम्बन्धियों की याद अपने आप आती रहती है और स्वयं अपने में ही विद्यमान नित्य सम्बन्धी को याद करना पड़ता है। कैसी विडंबना है ! हम लोगों को ध्यान रखना चाहिये इस बात पर कि शरीर के सम्बन्ध से जिन्हें हमने सम्बन्धी माना वे सबके सब हमारा साथ निभाने में असमर्थ हैं। उनमें से एक भी ऐसा नहीं है जो सदा के लिए हमारा साथ दे सके। दूसरी ओर जो नित्य सम्बन्धी है, वह सभी का है, सदैव है, वह सदा ही हम सभी का साथ देता है। हमारा लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण करने में समर्थ है। किसी भी समय, किसी भी स्थिति में उसकी याद अपने को आ जाए तो वह तत्काल अपनी विद्यमानता का अनुभव देकर साधक को कृत-कृत्य कर देता है। ऐसे समर्थ प्रभु के होते हुए जीवन सूना-सूना बीत रहा है। इस दशा को मिटाने का उपाय क्या है ?

इस दशा को मिटाने का एक उपाय तो यह है कि भाई, जहाँ तक हो सके, अकेले में बैठ करके, अपने को समझा-बुझा कर, विश्वास को सजीव बनाने में जो बाधा डालने वाली बातें हैं, उनको दूर करिये। दूसरा, हारे हुए साधक के लिए एक अन्तिम उपाय और है। वह यह

है कि भाई देखो ! अपना जो तुम्हारा विश्वास है, वह बहुत ही दुर्बल है, कमजोर है। अनेक विश्वासों के कारण उसमें बहुत विक्षेप हैं। तो तुम्हारा अभी तक का किया हुआ विश्वास दुर्बल हो सकता है। लेकिन तुम उन सर्व-सामर्थ्यवान की कृपा का आश्रय लो और अधीर होकर उन्हीं से कहो कि हे प्यारे ! मैं सब प्रकार से विकल्प रहित विश्वास आपमें करना चाहता हूँ, मुझसे किया नहीं जाता। अब हे कृपालु ! आप अपनी कृपालुता से अपना दृढ़ विश्वास मुझको दे दीजिये। माँगा जा सकता है कि नहीं ? माँगा जा सकता है। और देने वाले दे सकते हैं कि नहीं ? दे सकते हैं।

लेकिन मीराजी की तरह हमारे हृदय की पवित्रता ऐसी नहीं है कि एक बार सुन लिया कि, "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' तो वह जीवन का मंत्र हो जाए। प्रह्लादजी की तरह हृदय की ऐसी तैयारी नहीं है कि एक घटना देख ली तो जीवन भर के लिए राम के हो गये। मान लीजिये, हमारी तैयारी उतनी अच्छी नहीं है। हृदय में कुछ गन्दगी भी है, कुछ आसक्ति भी है, थोड़ा राग-द्वेष भी है। हम लोग उसको घटा रहे हैं; मिटा रहे हैं। इन विकारों से अपने को मुक्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। लेकिन अभी पूरी तैयारी नहीं हुई है। अपनी दुर्बलता, अपनी निर्बलता, अपनी गन्दगी ले करके ही, उन परम सामर्थ्यवान् की शरण में अपने को डाल करके उन परम कृपालु से उनके दृढ़ विश्वास की भिक्षा माँगें। बड़ा भारी आश्वासन है।

श्री महाराज जी ने हम लोगों को बहुत बड़ा संबल दिया है इस रूप में, और यह कहा कि भैया, प्रभु में विश्वास करना और उनका विश्वास उनसे माँगना दोनों ही समान फलदायक होते हैं। साधन-पथ के हारे हुए साधकों के लिए यह संजीवनी है, पुनर्जीवन देने वाला तत्त्व है। हृदय की नीरसता का नाश करने के लिये जीवन में आस्तिकता का सहारा हम लोगों को लेना चाहिये। सफलता मिलेगी अवश्य।

अब अन्य उपायों को भी देखा जाये। कर्त्तव्य के सहारे भी नीरसता का नाश होता है। ममता और कामना के दोष से अपने को

बचाकर जगत् की सेवा में माने हुए सम्बन्ध के निर्वाह के लिए कर्त्तव्य के पालन करने वाले साधक जो होते हैं, उनके भीतर भी सरसता रहती है। उनका जीवन भी सत्पथ पर गतिमान रहता है।

भूतकाल की भूलों को छोड़कर जो लोग वर्त्तमान में जीवन स्वीकार करते हैं, उनके भीतर भी सरसता रहती है। प्रवृत्ति के साथ-साथ निवृत्ति को भी जो लोग महत्त्व देते हैं और हर एक कार्य को पूरा करने के बाद दूसरा आवश्यक कार्य आरम्भ करने से पहले थोड़ी-थोड़ी देर के लिए भी शान्त रहने को महत्त्व देते हैं, उन्हें भी जीवन में बड़ी सरसता मालूम होती है। यह बिल्कुल वैज्ञानिक स्तर की बात है। उस शांति में भाव-शक्ति की वृद्धि होगी।

जो साधक ज्ञान पंथ के हैं और तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ना पसन्द करते हैं, उनको भी उस शांति की भूमि में स्थिर होना होता है। प्रभु प्रेम के साधक जो प्रेम रस से अभिन्न होना पसन्द करते हैं, उनमें भी जगत् की सेवा के रूप में, क्रियात्मक पूजा के बाद प्रभु के भाव में आ करके उनकी याद में शांत होना पड़ता है।

मैंने अनुभव करके देखा है कि शांति-संपादन, साधक की सब प्रकार की शक्तियों के विकास के लिए अनिवार्य बात है। शांति के आगे तत्त्व का बोध और प्रभु प्रेम से अभिन्नता, किसी साधक की न भी हुई हो तो भी कोई चिन्ता की बात नहीं है। अभी तक नहीं हुई है तो ऐसा मत सोचिये कि बाजी हार गये। हार नहीं गये। सही प्रवृत्ति के बाद, थोड़ी देर के लिए स्वाभाविक निवृत्ति में आप रहिये।

कर्त्तव्यपथ से भी, ज्ञानपथ से भी और प्रेमपथ से भी शांति में स्थिर होना इतनी बढ़िया बात है कि उसमें अलौकिक शक्तियों की वृद्धि होती है। विचार का उदय होगा, निज-स्वरूप का बोध होगा। भाव का उदय होगा तो आपका सम्पूर्ण अहं गल करके प्रेम के धातु में परवर्तित हो जायेगा। प्रेमास्पद से जुट जायेगा।

ये बातें इतनी स्वाभाविक हैं और इतनी सच्ची हैं कि पढ़े-लिखे और अनपढ़े-लिखे, किसी [illegible] और किसी भी [illegible] किसी भी देश और

किसी भी मत-पंथ के साधक के जीवन में सहज भाव से फलीभूत हो जाती हैं।

आप प्रभु विश्वासी हैं तो उन्हीं की दी हुई शक्ति, उन्हीं का दिया हुआ बल, उन्हीं के रूप में जगत् की सेवा के द्वारा उनकी पूजा करिये। एक गिलास जल भी किसी प्यासे को पिलाया आपने, तो वह जल का पिलाना बहुत दूर तक आपके साथ रहेगा और आपकी साधना में सहायक होगा। दूसरे को देखने में प्यासे शरीर और जल का संयोग दिखाई देगा। लेकिन आप प्रभु विश्वासी हैं, पूजा के अतिरिक्त दूसरा काम आपको करना ही नहीं है तो आपमें कौनसा भाव जगेगा। आपमें बड़ा ही कोमल भाव जगेगा। ध्यान में यह आयेगा कि अहा ! मुझमें उदार बनने का शौक था तो मेरे प्यारे मेरे हृदय की उदारता को बढ़ाने के लिये प्यासा बनकर आ गये। क्या जाने, यह आकृति, यह मूर्ति जो मेरे सामने खड़ी है, उसकी पहचान क्या है, कि कौन है ? अपने को तो पूजा ही करनी है।

जिसकी पूजा मेरे जीवन का लक्ष्य है, उसी का दिया हुआ हाथ है, उसी का दिया हुआ जल है और उसी का यह प्यारा है, कि स्वयं वही है - कुछ कहा नहीं जा सकता। उसी का प्राणी है तब भी, उसी की सृष्टि का दु:खी व्यक्ति है तब भी, इसमें भी मेरा प्यारा विद्यमान है तब भी और मेरे प्यारे ने ही यह रूप बनाया है तब भी, स्थूल से स्थूल, सूक्ष्म से सूक्ष्म और ऊँचे से ऊँचा भाव ले लो, सब प्रकार से आपकी बहुत ही गहरी साधना बन जायेगी।

भौतिकवादी होकर स्थूल से स्थूल दृष्टिकोण ले लो। अगर आपमें साधना का भाव है तो एक गिलास जल जिस प्यासे को पिलायेंगे, वह जल उस शरीरधारी के शरीर में जाकर जल की कमी को पूरा करने का संतोष देगा, सुख देगा और आपके भाव के साथ वह जल अर्पण किया गया तो वह भाव, भौतिक सीमा को पार करके आपके प्रेमास्पद के पास पहुँच जायेगा। पूजा हो गई। प्यारे की याद आ गई और इस क्रिया का अन्त किसमें हुआ ? प्रभु प्रेम की अभिव्यक्ति

में। जीवन पूर्णता की ओर आगे बढ़ गया। कितनी सहज साधना है। इस क्रिया का अन्त उस भाव में हुआ जिस भाव से कर्त्ता ने कार्य किया था।

श्री महाराज ने एक सूत्र दिया है और यह लिखा है कि "कर्त्ता जिस भाव से कार्य करता है, कार्य के अन्त में वह स्वयं उसी भाव में विलीन होता है।" सेवा प्रवृत्ति प्राप्त सामर्थ्य के सदुपयोग द्वारा राग निवृत्ति की साधना है, जिसका फल है - कार्य के बंधन से छूट जाना। सेवा में प्रभु की पूजा का भाव साधक को प्रभु प्रेम से अभिन्न करता है जो उसका जीवन सर्वस्व है।

चाहे शरीर विज्ञान की दृष्टि से, चाहे मनोविज्ञान की दृष्टि से, चाहे भौतिक तत्त्व की दृष्टि से, चाहे ज्ञानपंथ से, चाहे प्रेम पंथ से, आपके सीमित अहंरूपी अणु में जो ऊर्जा है, Energy है, life force है अर्थात् जीवनी शक्ति है, वह हर प्रवृत्ति के बाद आ करके निवृत्ति में लय होती है। आप किसी मत अथवा पंथ के हो, इससे कोई मतलब नहीं है। यह वैज्ञानिक सत्य है, यह दार्शनिक सत्य है, यह आस्तिकता है। आप करके देखिये, बड़ा अच्छा लगेगा।

मैं कहती हूँ कि शरीर के साथ रहते-रहते भी व्यक्ति अगर व्यक्तित्व का संतुलन रख सकता है तो उसके भीतर अन्तर्निहित शांति की अभिव्यक्ति का आनन्द उसको आ जाता है। जब वह शरीर के लगाव से छूट जायेगा, चाहे ज्ञानस्वरूप हो करके ज्ञानस्वरूप से मिल जाये, चाहे प्रेम के धातु में परिवर्तित होकर प्रेमस्वरूप से अभिन्न हो जाए तो उसके आनन्द और रस की क्या सीमा रहेगी ? जिन-जिन महानुभावों ने उस जीवन का अनुभव किया, उन सबने हम लोगों को सलाह दी कि भाई ! वास्तविक जीवन का आनन्द और रस अकथनीय है। उसका कथन नहीं हो सकता। एक ज्ञानपंथ के संत ने एक ग्रन्थ में अपना अनुभव लिखा है। पहला ही वाक्य लिखा है कि 'यह' और 'वह' दोनों एक साथ मेरी दृष्टि में नहीं आये। आगे उन्होंने बताया कि अपने में ही विद्यमान जो नित्य जीवन है, उसकी अभिव्यक्ति मात्र में यह सारा संसार और सब कुछ खत्म हो जाता है।

प्रेम पंथ के साधकों ने भी कहा और ज्ञानपंथ के साधकों ने भी कहा कि सत्य की स्मृति मात्र से, प्रभु की प्रीति की अभिव्यक्ति मात्र से, वास्तविकता से अभिन्न होने की उत्कंठा मात्र से इतनी सरसता जीवन में भर जाती है कि हमेशा-हमेशा के लिए साधक कृत-कृत्य हो जाता है। ऐसा होता है।

अब अपनी ओर देख लीजिये। अगर हम लोगों को हृदयशीलता को बढ़ाये बिना अपना विकास रुका हुआ लगता है तो जो-जो तथ्य आपके सामने आवें उनको आप सोच-विचार कर देखिए और वर्तमान में जिसका अनुसरण आपको सहज स्वाभाविक लगे, उसका अनुसरण कीजिये। सार की बातें अलग-अलग आपकी सेवा में निवेदन करती जा रही हूँ। अपने को भी समझा रही हूँ। आपकी पूजा कर रही हूँ। आप सुन रहे हैं। जो बात आपको अच्छी लग जाये, अपने लिये जंच जाये, आज से ही उसका अनुसरण आरम्भ जरूर कर दें। शरीर के नाश से पहले हमारी तैयारी इतनी हो जाये कि अपने ही में विद्यमान की विद्यमानता का प्रत्यक्ष अनुभव पा करके हम मस्त हो जायें। जीवन अपना पूर्ण हो जाये और बाद में शरीर का नाश कब हुआ, सो अपने को पता ही नहीं चले। हो जायेगा जरूर !

थोड़ी-थोड़ी सरसता बढ़ने लग जाती है, उतने ही में बड़ा बल आ जाता है, बड़ा विश्वास बढ़ जाता है, धीरज आ जाता है। अपने को इत्मिनान हो जाता है कि हाँ, यह ठीक है। ऐसा करने से काम बन जायेगा। जल्दी-जल्दी प्रगति हो जाती है। इसलिये हम लोग चेष्टा जरूर करें। सफलता मिलेगी अवश्य ! अब आप शांत हो जायें।

(44)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

शांतिमय निर्विकार अविनाशी जीवन की माँग मानव मात्र की मौलिक माँग है। अनुभवी संत के मुख से मैंने ऐसा सुना है कि अशांति से पीड़ित रहने वाले व्यक्ति के भीतर परमशांति की माँग रहती है।

जिसको परमशांति की माँग होती है, उसको इस बात में विश्वास करना चाहिये कि शांतिमय जीवन का अस्तित्व है, और वह मिल सकता है। इसी प्रकार निर्विकार होने की आवश्यकता मनुष्य को है, तो उसे इस बात में विश्वास करना चाहिये कि निर्विकार जीवन है और मुझे मिल सकता है।

जिस अविनाशी जीवन की माँग हम सभी अनुभव करते हैं, उस अविनाशी जीवन की सत्ता में विश्वास करना, हमारा आपका वर्तमान का पहला पुरुषार्थ है। अब कोई भाई ऐसा हो कि साधन तो करता रहे और यह मानता रहे कि निर्विकार जीवन होता ही नहीं है तो फिर सफलता संभव नहीं है। जिसके बारे में आप अपने भीतर से निस्संदेह नहीं होंगे, उसकी ओर आपका प्रयास सजीव कैसे होगा।

साधकों के कल्याण के लिये अनुभवी संतों ने बड़े जोर से हम लोगों को विश्वास दिलाया कि ऐसा मत सोचो कि तुमको बनाने वाले परमात्मा ने तुम्हारे भीतर माँग पैदा कर दी और उसकी पूर्ति का विधान नहीं बनाया। मनुष्य अपनी कामनाओं के सम्बन्ध में अपने जीवन काल में ऐसा अनुभव करता है कि कामनायें उत्पन्न होती रहती हैं, और उनकी पूर्ति नहीं होती है। इस आधार पर अन्दाज नहीं लगाना चाहिये कि माँग की पूर्ति नहीं होती। कामना और माँग दोनों में अंतर है। कामना कहते हैं उसको जो 'स्व' से 'पर' की ओर हमें खींच ले जाये। अपने से भिन्न की जरूरत अनुभव करो, तो उसका नाम है - कामना अथवा इच्छा। इच्छा पैदा हुई नहीं कि व्यक्ति अपनी स्वाभाविक शांति से अशांति में कूद पड़ता है। गतिशीलता उत्पन्न हो जाती है। चिन्तन उत्पन्न हो जाता है। पराधीनता आ जाती है। अतः जो परिश्रम में डाल दे, पराश्रित बना दे, उसका नाम है - इच्छा। इसके विपरीत जो अपने में है, और स्वतः ही अभिव्यक्त होती है, जिसका नाश नहीं होता, जिसकी पूर्ति अनिवार्य है, जो सब दुःखों का नाश करा देती है, जो परिश्रम और पराश्रय से मुक्त करा देती है, उसका नाम है-माँग। इच्छाओं के सम्बन्ध में यह विधान है कि सभी इच्छायें किसी की पूरी नहीं होती हैं, परन्तु माँग के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। माँग कहते

ही उसको हैं जिसकी पूर्ति अनिवार्य है। यह मानव-जीवन का मंगलमय विधान है। माँग को जाग्रत रखना, उसे सजीव बनाना उसकी तीव्रता को बढ़ाना, हमारा पुरुषार्थ है, और उसकी पूर्ति का सारा प्रबन्ध परमात्मा के मंगलमय विधान से होता है।

शरीर और संसार के सहयोग से जीना, मेरे लिये संतोषदायक नहीं लगा। मैंने अपनी दयनीय दशा को जब संत के सामने रखकर बार-बार निवेदन किया कि सुख-दुःख का द्वन्द्व कैसे मिटेगा ? तब उन्होंने मुझको विश्वास दिलाया जिससे मुझे बड़ा बल मिला। उन्होंने कहा कि ऐसा मत सोचो, कि परमात्मा ने दुःख-रहित जीवन की माँग तुम्हारे भीतर जगा दी और उसकी पूर्ति का इन्तजाम नहीं किया। सत्य की माँग है, तो तुम्हें मान ही लेना चाहिये कि सत्य की सत्ता भी विद्यमान है। अज्ञानता के, भ्रम के दुःख से तुम दुःखी हो, भ्रम निवारण के लिये तुम्हें ज्ञान के प्रकाश की आवश्यकता है, तो तुम इस बात को मान ही लो कि स्वयं प्रकाश, ज्ञान-स्वरूप परमात्मा विद्यमान है। ऐसा हो नहीं सकता कि मनुष्य को ज्ञान का प्रकाश चाहिये और हमेशा के लिये उसके सामने अंधकार ही बना रहे। भाई, सच्ची बात तो यह है कि ज्ञानस्वरूप परमात्मा विद्यमान है, इसलिए तुमको उसकी आवश्यकता मालूम होती है। इसलिए तुम उस ज्ञानस्वरूप की सत्ता में विश्वास करो कि वह है। उसकी विद्यमानता में जब निस्संदेहता रहेगी तभी उसके लिये सजीव प्रयास चलेगा।

सत्यस्वरूप जीवन है। ज्ञानस्वरूप और प्रेमस्वरूप परमात्मा है। जो साधक इस सत्य में विश्वास करेगा, वही जीवन के मौलिक प्रश्नों को हल कर सकेगा। जीवन के मौलिक प्रश्न मानव मात्र के सामने आते हैं। प्रत्येक सजग भाई-बहिन जानना चाहता है कि वर्तमान अशांति कैसे मिटे ? दुःख-रहित जीवन कैसे मिले ? मृत्यु के भय से मुक्ति कैसे मिले ? नीरसता के नाश के लिए पवित्र प्रेम रस कैसे मिले? आदि-आदि। ये सभी समस्यायें हल हो जाती हैं जब साधक दिव्य, चिन्मय, रस-रूप जीवन की सत्ता में विश्वास करता है।

सबसे पहले जब मैं श्री स्वामीजी महाराज के पास पहुँची तो उन्होंने मुझसे पूछा - कि तुम्हारे जीवन में कोई दुःख है क्या ? मैंने कहा कि हाँ महाराज, बड़ा भारी दुःख लेकर आयी हूँ। क्या दुःख है ? उस समय की जो मेरी फीलिंग थी, वह मैंने कह कर सुनाई - जो चाहती हूँ सो होता नहीं है, जो होता है वह भाता नहीं है, जो भाता है सो रहता नहीं है, यह भी कोई जिन्दगी है ? ऐसी जिन्दगी को लेकर मैं क्या करूँ? ऐसी जिन्दगी का भार मैं क्यों ढोऊँ ? मुझे अपना दुःख बताने में कुछ समय लगा, क्योंकि मैंने अपना हाल विस्तार से सुनाया। परन्तु स्वामीजी महाराज ने एक ही वाक्य में मुझे उत्तर दे दिया। उन्होंने कहा कि लाली, जब तुम्हारा ही अनुभव है कि जो चाहती हो सो नहीं होता है, तो चाह छोड़ क्यों नहीं देती ? कितना सही और अकाट्य उत्तर मिला।

उसके बाद मैंने फिर पूछा कि मेरे सामने जो दशा है उसको ढोने के लिए मैं विवश क्यों हूँ ? अनचाही दुःखद बातें होती रहती हैं, और मुझे विवश होकर दुःख सहन करना पड़ता है। ऐसा क्यों ? उस समय तक मैं सृष्टिकर्ता को ही दोष लगाया करती थी, कि ऐसा संसार उन्होंने क्यों बनाया ? दुःख भरे संसार में उन्होंने मुझे क्यों भेजा ? अपनी मर्जी से उन्होंने सृष्टि बनायी और मुझे उसमें रख दिया है। सुख-दुःख का द्वन्द्व मुझसे सहन नहीं होता है। मुझे नापसंदगी की जिन्दगी जीने के लिए क्यों बाध्य किया है। ये सारी बातें स्वामीजी महाराज को मैंने सुना दी। अब संत-समागम आरम्भ हुआ। उन्होंने कहा कि भाई, बात ऐसी नहीं है, तुम्हारा सोचना बिल्कुल ही गलत है। तुमको शांति चाहिये तो तुम्हारे रचयिता में शान्ति तत्त्व विद्यमान है। तुमको अमर जीवन चाहिये तो निर्माता में अमरत्त्व विद्यमान है। तुमको प्रेम का रस चाहिये तो प्रेमस्वरूप परमात्मा विद्यमान हैं। तुम्हारे भीतर जिस जीवन की माँग है, वह पहले से ही विद्यमान है। तुम विश्वास करो कि जीवन उसी को कहते हैं, जिसमें दुःख, अभाव और नीरसता नहीं है, प्रत्युत शांति, अमरत्व और सरसता है। चिरशांति, परम स्वाधीनता, और अनन्त रस से भरा हुआ जो है, उसी का नाम

जीवन है, और जिस दुःख का भार तुम ढो रही हो वह तुम्हारी भूल के परिणाम से उपजी हुई दशा है। अब तुम अपना चित्र देखो - तुमने भूल-जनित दशा को तो जीवन मान लिया और जो जीवन है, उसमें संदेह कर लिया। चैन कहाँ से आये ? सुनकर मेरी आँखें खुल गयीं। सचमुच कैसा भ्रम है। आदमी यों ही कहता रहता है कि जीवन बड़ा दुःखमय है, बड़ा जंजाल है। सोचो तो सही ! जीवन कभी दुःखमय होता है ? और जो दुःखमय होता है, क्या उसको जीवन कहते हैं ? अरे भाई, जो सत्य होता है, सनातन होता है, रसमय होता है, उसी का नाम जीवन है।

श्री स्वामीजी महाराज ने जो जीवन की परिभाषा बतायी वह मुझे बहुत पंसद आयी। वैसा जीवन मुझे अवश्य चाहिये था। मैंने कहा, अच्छी बात है। उस समय की जो मेरी दशा थी, उसमें एक प्रतिशत भी मेरे पसन्द आने लायक कोई बात नहीं थी। परन्तु श्री महाराजजी की बात से मुझे यह मालूम हो गया कि जिसमें अप्रिय लगने लायक कोई बात ही नहीं है, उसी को जीवन कहते हैं, और वह जीवन विद्यमान है, इस उत्तर से मुझे बड़ा धीरज मिला। मैंने तुरंत उनसे पूछा, स्वामीजी महाराज, मैं जानना चाहती हूँ कि जिस जीवन की परिभाषा आपने बतायी, वह किसको मिलता है। बड़ा सजीव प्रश्न था मेरा। वस्तुतः मैं जानना चाहती थी कि जीवन जिनको मिलता है, उनमें मैं स्वयं शामिल हो सकती हूँ कि नहीं। उन्होंने एकदम उत्तर दिया कि वह सबको मिलता है। इस उत्तर के सुनते ही मुझ में आशा का संचार हो गया। जैसे ही श्री महाराजजी के मुख से निकला कि वह जीवन सबको मिलता है तो मुझे आगे पुरुषार्थ करने का आधार मिल गया। फिर कभी मुझे संदेह नहीं हुआ। ऐसा लगा कि ये संत जो कह रहे हैं, वह सच्ची बात है। मुझे बहुत पसंद आया। मैंने सोचा कि सबको मिलता है, तो मुझे भी मिल सकता है। ठीक है भाई ! दुःख का भार ढोने से छुट्टी मिल सकती है, तो इससे बढ़िया बात और क्या होगी? मैं बहुत प्रसन्न हो गयी।

अब अगला प्रश्न उठा मेरे भीतर, मैंने पूछा, महाराजजी, कैसे

मिलता है ? प्राप्ति का उपाय भी मुझे चाहिये था। उत्तर मिला- पसंद करने से। तुम पसंद करलो उस जीवन को, मिल जायेगा। अब आप देखिये मेरा पहला प्रश्न था ? जीवन है कि नहीं ? उत्तर मिला-है। दूसरा प्रश्न उठा, किसको मिलता है ? उत्तर मिला- सबको मिलता है। तीसरा प्रश्न हुआ, कैसे मिलता है ? उत्तर आया-पसन्द करने से। मेरे तीन प्रश्नों के श्री महाराजजी ने अत्यन्त निश्चयात्मक तीन उत्तर जो दिये तो उसी क्षण में, उसी जगह पर, मेरा दिल-दिमाग एकदम शांत हो गया। मृतक को संजीवनी अमृत-घूँट जैसे मिल गयी। आप मेरी दशा का अनुमान लगाइये कि किस प्रकार जीवन की तीव्र जिज्ञासा लेकर मैं श्री महाराजजी के पास आयी थी। सुख-दुःख के द्वन्द्व की पराधीनता मुझे असह्य थी। प्रतिकूलतायें सहन नहीं होती थीं अनुकूलताओं में ठहराव नहीं था। भीतर का अभाव सताता रहता था। परित्राण कहीं दिखता नहीं था। मैं व्यग्र थी यह जानने के लिये कि नापसंदगी की दशा मिटती भी है कि नहीं ? दुःख, अभाव और पराधीनता से मुक्त जीवन होता भी है कि नहीं ? मात्र डिग्री तक के अध्ययन के क्रम में मेरे भीतर के इन ज्वलन्त प्रश्नों का समुचित उत्तर मुझे नहीं मिला था।

सब ओर से निराश होकर संत के पास आयी थी। भरी सभा में मैं प्रश्न करती गयी, श्री महाराजजी उत्तर देते गये। मेरी बेकली शांत होती गयी। जैसे डूबते हुए को जरा-सा भी सहारा मिले, तो वह बड़े जोर से उसको पकड़ लेता है, वैसे ही श्री महाराजजी के उत्तर मेरे द्वारा कस कर पकड़ लिए गये। बिना प्रयास ही उनके उत्तर मेरे अहम् में अंकित हो गये। मुझ में बड़ा भारी परिवर्तन आ गया। आगामी साधन के क्रम में मुझे बड़ी सहायता मिली। आप अंदाज लगा सकते हैं, कि मेरा कितना बड़ा काम उस एक ही बार के संत-समागम में हो गया। दुःख मिटाया जा सकता है, परम प्रेम के रस से भरपूर सरस जीवन मिल सकता है। इस सम्भावना से ही मुझ में नवजीवन का संचार हो गया। इसी आधार पर अब आप आत्मीय भाई-बहनों से मैं निवेदन कर रही हूँ कि दुःख, अभाव और मृत्यु को अंगीकार मत करिये। जिन

दिव्य, चिन्मय, रस रूप जीवन की आप में माँग है, वह अवश्य पूरी होगी।

श्री महाराजजी की अपनी खोज है - कि माँग कहते ही उसे हैं जिसकी पूर्ति अनिवार्य हो। मेरे साधनयुक्त जीवन का यह पहला अध्याय पूरा हुआ।

अब दूसरा अध्याय सुनिये। उसमें क्या है ? श्री स्वामीजी महाराज की बातों को सुन करके, मैंने दृढ़तापूर्वक निश्चय किया कि ये महात्मा जो कहते हैं, सो मैं जरूर करूँगी। इनके पास जो अलौकिक अनुभव है, सो मुझे मिल जायेगा। पुरुषार्थ आरम्भ हुआ, साधन के क्रम में प्रवेश करने के बाद श्री महाराजजी के वचनों के अनुसरण करने की चेष्टा आरम्भ हुई। संत के वचनों को मैंने पूरा का पूरा मान लिया, ऐसा तो नहीं कह सकती। परन्तु मुझे कुछ पता नहीं चला कि मेरा सम्पूर्ण व्यक्तित्व कब उन महात्मा के प्रभाव से इतना प्रभावित हो गया कि सोचने, विचारने और जाँच-पड़ताल करने का कोई मौका ही नहीं लगा।

मानव जीवन ऐसा विलक्षण है, कि मैं क्या बताऊँ आपको ? मैंने विधि-विधान से नित्य प्रति कोई कठिन साधना की हो, ऐसी बात नहीं है। केवल जीवन के प्रति एक गहरी जिज्ञासा थी, उसी से मेरी पृष्ठभूमि ऐसी तैयार हो गयी थी कि मैं समस्यायें बताती रही, श्री महाराजजी परामर्श देते रहे, मेरा समाधान होता गया। केवल एक-एक बार मैंने प्रश्न रखे और उत्तर मिले, तो फिर जीवन में कभी भी दुबारा ये प्रश्न नहीं उठे। संदेह सदा के लिए मिट ही गया। यह संत-समागम एवं सत्संग की महिमा है। ललित भाषा और सरल शैली में सत्संग की महिमा कहकर सुनाना सीखा मैंने पीछे और सत्संग के प्रभाव से जीवन सुधर गया पहले।

मैं साधन के क्रम में जिसको दूसरा अध्याय कह रही हूँ, उसमें बहुत बढ़िया बात मेरे सामने आयी। वह क्या, कि नित्य जीवन विद्यमान है, एक ज्ञानस्वरूप, प्रेमस्वरूप, आनन्दस्वरूप और नित्य तत्व

विद्यमान है। उसकी विद्यमानता का यह प्रभाव है कि हम लोग उस नित्य जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हैं। अतः हमें उसकी सत्ता में दृढ़ आस्था रखनी चाहिये। हमारी माँग पूरी होगी अवश्य।

अब आप यह देखिये, चूंकि वह प्रेमस्वरूप परमात्मा, अपना प्रेम देकर मुझको आनंदित करने के लिए लालायित हैं, इसलिए उसके प्रेम की प्यास मुझ में जगती है। अपनी भूल-जनित दशाओं में फँस करके हम सब जब तड़पने लगते हैं, तो हम लोगों को उस दुःख में से उबारने के लिए वे मंगलकारी अपना संदेशा भेजते हैं-याद दिलाते हैं। मौन निमन्त्रण भेजते हैं। बहुत प्रकार के इन्तजाम करते हैं। ऐसा होता है। नाशवान संसार की आसक्ति में क्षण-भंगुर शरीर के नाश के भय से भयभीत होने वाला व्यक्ति, धन के चले जाने से उसके वियोग से पीड़ित होने वाला व्यक्ति, जिससे तन, धन, डिग्री और पद का झूठा अभिमान अपने में पाला था वह व्यक्ति, तन, धन, और पद के छूट जाने से पीड़ित हो गया, परेशान हो गया। इस प्रकार अपने ही भ्रम के कारण जो पीड़ित हो गया है, उस व्यक्ति को देखकर करुणा-सागर जगत्-पिता और करुणामयी, महिमामयी जगत्-जननी माँ अत्यन्त द्रवित हो जाते हैं। हमारी छटपटाहट और झूठ-मूठ दुःख में पड़े रहना, उनसे सहन नहीं होता है। वे चाहते हैं कि उनके बच्चे दुःख से मुक्त हो जायें, तो उनके इस शुभ संकल्प से हमारे भीतर जागृति आ जाती है। वे देखते हैं कि उनके पास अमृत का अगाध सागर लहरा रहा है और उन्हीं का बच्चा रस का प्यासा संसार में भटक रहा है। सहज करुणा से प्रेरित होकर वे अपनी याद दिलाते हैं, तो हम लोगों को उनकी याद आती है।

जीवन के प्रति मेरा दृष्टिकोण बदल गया। थोड़े ही दिनों के बाद, मैं जीवन को अधिक कोमल भाव से देखने लगी। पहले प्रवचन में यह बात आयी थी कि मुझमें जीवन की माँग है तो उसकी पूर्ति का विधान भी है। अब यह सत्य स्पष्ट हो गया कि नित्य जीवन पहले से विद्यमान है, इसलिए हम लोग उसकी आवश्यकता अनुभव करते हैं। हम हमारे [illegible] की पीड़ा सह रहे हैं हमारी पीड़ा

उनसे सही नहीं जाती है। उनमें करुणा उद्वेलित होती है, उसकी प्रतिक्रिया है कि हमें उनकी याद आती है। सचमुच मैं ऐसा फील करने लगी, अनुभव करने लगी थी। आपका मन बहलाव नहीं कर रही हूँ, मुझे ऐसा ही सूझने लगा कि उनकी करुणा के बिना यह बात हो नहीं सकती थी। आप सोचिये न ! विविध प्रवृत्तियों में फँसे हुये आदमी को थोड़ी-थोड़ी देर में चेतना आती रहती है। आदमी सोचता है कि इतने दिन बीत गये भजन किया ही नहीं, इतने दिन बीत गये, साधन किया ही नहीं। इस तरह साधन की, भजन की, भगवान की, याद हम लोगों को बीच-बीच में आती रहती है। सुख भोग में फँसे हुए मनुष्य के भीतर चेतना जगती रहती है कि अरे भाई ! आज शरीर स्वस्थ है, खाने, पीने, खेलने का सुख मिल रहा है, आगे चलकर शरीर रोगग्रस्त हो जायेगा, अंग-अंग शिथिल हो जायेगा। अपना कोई वश न चलेगा, तब क्या करेंगे ? इस प्रकार का चिन्तन होता रहता है। संतजनों के, भक्तजनों के एवं अपने अनेकों एजेन्ट्स के द्वारा परमात्मा हम लोगों को ये सूचनायें भेजते ही रहते हैं कि होश में रहो ! कहाँ भटक रहे हो ? कहाँ फँसे हुए हो ?

अब मैं ऐसा कहती हूँ चूंकि वे अनन्त परमात्मा विद्यमान हैं और उनमें अनन्त शक्ति, अनन्त आनन्द और प्रेम-रस की अनन्त मधुरता है। इसलिये वे अपनी सारी विभूतियों को लेकर हम सब लोगों के जीवन को उस रस से आप्लावित करना पसंद करते हैं। यह उनकी कृपालुता है, जो हम लोगों को भवजाल में फँसी हुई दशा में भी सचेत करती रहती है। यह उनके प्रेम का प्रभाव है कि हमारे भीतर उन प्रेम स्वरूप परमात्मा से रस पाने का और उनको रस देने का एक भाव उदित होता रहता है। ऐसा जब से मेरे ध्यान में आया तब से जीवन के प्रति एक उत्साहपूर्ण मनोवृत्ति बन गयी।

संत की शरण में बैठकर जीवन की चर्चा सुनने के बाद और बहुत सोच-विचार करके विश्वास-पथ की साधना आरम्भ करने के बाद, मेरा सब पुराना दुःख मिट गया। अब आप सोचिये ! प्रायः साधकों के भीतर-भीतर परमात्मा से दूरी प्रतीत होने के कारण निराशा आती

रहती है। वे भीतर ही भीतर सोचते रहते हैं, क्या जाने परमात्मा कहाँ है ? क्या जाने वे किस साधना से, किस विधान से मिलते हैं ? क्या जाने अपने को कब मिलेंगे ? कि नहीं मिलेंगे ? इस तरह की निराशा की छाया घेरे रहती है। संदेहकाल में मेरी भी ऐसी ही दशा थी। संत-समागम के बाद वह निराशा की छाया भी मेरे सामने से सदा के लिये हट गई।

अब साधन के क्रम का तीसरा अध्याय आरम्भ हुआ। मुझे बड़ा सहारा मिल गया। किस आधार पर ? कि भाई, मैं निर्दोष हो जाऊँ। मेरे भीतर कोई विकार न रह जाये। मैं निज स्वरूप से अभिन्न हो जाऊँ। मैं परमात्मा के प्रेम से भर जाऊँ। यह आवश्यकता केवल मेरी नहीं है। यह उस सत्य-संकल्प का भी संकल्प है। मुझे पता कैसे चला ? स्वामीजी महाराज ने जीवन का मन्त्र मुझे पढ़ा दिया। उन्होंने कहा कि मानव-हृदय की रचना प्यारे प्रभु ने अपने प्रेम-रस के आदान-प्रदान के लिये की है। इस उद्देश्य की पूर्ति में वे हर प्रकार से सहायता करते हैं। तुम एक बार हृदय से अपने को भगवत् समर्पित कर दो। कह दो, हे प्रभु ! मैं तेरी, वे सँभाल लेंगे, तुम शंकालु हृदय से भी कहोगी तो भी वे सँभाल लेंगे। तुम्हारा भाव कच्चा होगा तो भी वे अपनी ओर से उसे पक्का करा देंगे। तुम्हें पकड़ लेंगे कसके, फिर छोड़ेंगे नहीं। वे अपना बनाकर छोड़ना जानते ही नहीं हैं। कितनी बढ़िया बात है। इतना सुनकर फिर मैंने अपनी बुद्धिमानी लगायी। मैंने कहा कि स्वामीजी महाराज ! मैं कहती रहूँ कि हे प्रभु ! मैं तेरी, हे प्रभु ! मैं तेरी, तो इतने से काम बनेगा ? मुझे भगवान की बड़ी भारी जरूरत मालूम होती है। दुनिया में असहायता मुझे सता रही है। सुख-दुःख का भार मुझसे ढोया नहीं जाता है। इस कारण मुझको उनकी बड़ी जरूरत है। मैं कह सकती हूँ कि हे प्रभु ! मैं तेरी। लेकिन मुझसे बहुत अच्छे-अच्छे उनके न जाने कितने भक्त हैं, मेरी बात उन्होंने नहीं सुनी तो ? तब तो यह One-side Relation एकतरफा सम्बन्ध मुझको पसन्द नहीं है। देखिए, मैं बात नहीं बना रही थी। एकदम भीतर से बड़ी जोरदार [illegible]

मैं सोचने लगी थी कि यह भी कोई बात है ? मैं निहोरा करती रहूँ, पुकारती रहूँ और उनको फुरसत ही नहीं हो, न सुनें तो ? मैंने पहले से सुन रखा था, परमात्मा के बारे में, कि वे सब प्रकार से पूर्ण हैं ! मैं यही सोच रही थी कि मुझे अभाव है, इसलिए मैं उनकी आवश्यकता अनुभव करती हूँ। वे सब प्रकार से पूर्ण हैं तो उन्हें मेरी बात सुनने की जरूरत नहीं है। क्या जरूरत है ? जो स्वयं सब प्रकार से पूर्ण हैं। उसको कोई जरूरत है नहीं। उन्होंने मेरी बात नहीं सुनी तो ? प्रेम स्वरूप परमात्मा के परम-मित्र श्री स्वामीजी महाराज ने मेरी बात सुनकर अपने हृदय को थाम लिया। उनके प्यारे प्रभु के स्वभाव के विपरीत चर्चा सुनकर, इतनी वेदना हुई उनके कि आँखों से एकदम आँसू झरने लगे। बड़ी मुश्किल से अपने को संभाल करके श्री महाराजजी मुझसे कहने लगे कि देवकीजी ! ऐसा सोचना तुम्हारा बिल्कुल निराधार है, गलत है। ऐसा नहीं है लाली ! ऐसा क्यों सोचती हो ? मनुष्य और परमात्मा के बीच के सम्बन्ध को तुमने क्या समझा है ? तुम्हारा कहना सही नहीं है। सच्ची बात तो यह है, तुमको उनके प्रेम-रस की जरूरत है तो उनको भी तुम्हारी जरूरत है। मैंने पहली बार जब यह सुना तो बहुत आश्चर्य हुआ और बहुत आश्वासन मिला। श्री स्वामीजी महाराज ने एक उदाहरण देकर इस विचार को संपुष्ट किया। उन्होंने कहा कि एक छोटा-सा नया पैदा हुआ बच्चा माँ की गोद में है। हर प्रकार से उसको माँ की जरूरत है। माँ दूध पिला दे, कपड़े संभाल दे, गोदी में रखकर रक्षा करे, सर्दी-गर्मी से बचाये, वात्सल्य-प्रेम से उसका पोषण करे और अनेकों प्रकार के शिक्षण दे। इन सारी बातों के लिये बच्चे को वात्सल्यमयी माँ की बड़ी भारी आवश्यकता है। लेकिन सोचो तो सही। क्या माँ को बच्चे की आवश्यकता नहीं है ? साधना की दृढ़ता के लिये जीवन सम्बन्धी चिंतन में, आगे एक नया चित्र खुला। खुले कानों से मैंने सुना और मुक्त हृदय से उसका स्वागत किया। संत कहते जा रहे थे - माँ की गोद में अगर बालक न हो तो मातृ-हृदय की वत्सलता का जो रस है, वह सार्थक कैसे होगा ? अगर गोद में बालक न आवे, तो कोई माँ, माँ बन सकती

है ? माँ के हृदय की कोमल भावना जो है, वह शिशु के होने से ही सार्थक है।

सब प्रकार से असमर्थ बालक अगर माँ की गोद में न हो तो माँ की महिमा और किसके काम आयेगी ? माँ की महिमा माँ के स्वयं के काम आयेगी क्या ? हृदय का प्रेम-रस दूध के रूप में पिलाकर, माँ बच्चे को पिलाती है। सेवा-त्याग और प्रेम की प्रतीक है - माँ। उसकी ये सब विशेषतायें शिशु के काम आती हैं। इस दृष्टि से माँ की बड़ी महिमा है। उस महिमा से पोषित होने के लिए, पूरित होने के लिये, धन्य और कृतज्ञ होने के लिये कोई शिशु चाहिये कि नहीं चाहिये ? श्रीस्वामीजी महाराज ने ऐसा उदाहरण देकर मुझको विश्वास दिलाया कि अरे भाई, तुम्हीं को प्यारे प्रभु की जरूरत है, ऐसी बात नहीं है। यह One-sided Relation नहीं है। यह रिलेशन तो दोनों तरफ से है और साधक की तरफ से जितना है, उससे असंख्य गुणा अधिक परमात्मा की तरफ से है। क्योंकि हम अपनी तरफ से मानते हैं कि हम प्रभु के हैं परन्तु वे सर्वज्ञ भली-भांति जानते हैं कि हम उनके हैं।

साधक प्रारम्भ में प्रभु के प्रति अपनेपन का भाव धारण करता है तो वह अपनापन बहुत ही दुर्बल होता है। लेकिन परमात्मा की ओर से साधक के प्रति जो अपनत्व का भाव आता है, वह बड़ा ही प्रबल होता है। उसकी क्षति नहीं होती है। वह कभी घटता नहीं है। वह साधक के जीवन को मधुर रस से आप्लावित कर देता है। अब तुम अपने और उनके बीच के सम्बन्ध को One-sided Relation मत कहना।

श्री महाराजजी के समझाने से मेरे भीतर ऐसा लगा कि यह बात बिल्कुल सच्ची है। मुझे परमात्मा का आश्रय चाहिये, तो उन्हें भी मुझ जैसे आश्रित चाहिये। उनको मेरी जरूरत इस रूप में है कि मुझ पतित का उद्धार करेंगे तो उनका पतित-पावन नाम सार्थक होगा। यह सोचकर मुझ में बड़ी निश्चिन्तता आ गयी। भीतर बड़ा बल भर गया, बहुत बढ़िया बात हो गयी। संत कबीर का एक प्रसंग याद आ गया

-''भगत बछल जब हरि सुने दिया कबीरा रोय, अधम उधारन जब सुने गया कबीरा सोय।'' प्रभु का नाम भक्त वत्सल है, यह सुनकर संत कबीर रोने लगे कि भाई, जो भक्त होगा, उसको वे मिलेंगे। फिर किसी ने कहा, नहीं कबीरजी, ऐसी बात नहीं है। प्रभु का नाम केवल भक्त वत्सल नहीं है। उनका नाम ''पतित पावन'' भी है, 'अधम उधारन' भी है। यह सुनकर संत कबीर चादर तानकर सो गये कि अब कोई चिन्ता की बात नहीं है, यदि भक्त होने के नाते हम उनके पास नहीं पहुँच सकते तो अधम होने के नाते हम उनसे जुट ही जायेंगे। मैं अधम हूँ तो वे अधम उधारन हैं। मैं पतित हूँ तो वे पतित पावन हैं। मैं दीन हूँ तो वे दीन बन्धु हैं, मैं दुःखी हूँ तो वे दुःखहारी हैं। संत की ये बातें मैंने अपने साधन-पथ के पाथेय के रूप में संजो ली। आशा जग गयी, विश्वास बन गया। मैंने सोच लिया जब दोनों तरफ से सम्बन्ध है, तो मेरी पुकार निरर्थक नहीं जायेगी। मैं पुकारूँगी तो वे सुनेंगे तो जरूर। मेरे जीवन में यह बात अच्छी तरह बैठ गयी और मेरा बहुत बड़ा उपकार हो गया।

मनुष्य के जीवन में दुःख, अभाव और नीरसता के दर्शन होना बड़ा ही शुभलक्षण है। क्योंकि इनसे परित्राण पाने की सजगता आते ही, जीवन के मंगलमय विधान से संत-समागम एवं सत्संग अप्रयास ही उपलब्ध होता है। मैंने संत-वाणी में ऐसा सुना है और अपने जीवन में अनुभव किया है। सुख-दुःख का चक्र चलता ही रहता है। उनके थपेड़े खाकर अधीर हुआ व्यक्ति अपने लिये आश्रय खोजता है। संसार के सम्बन्धियों में माता-पिता, पति और पुत्र, निकटतम सम्बन्धी माने जाते हैं। इनकी असमर्थता अथवा इनके अभाव में अनाथपन की पीड़ा से पीड़ित व्यक्ति, सत्संग के प्रकाश में अपने परम आश्रय का परिचय पाकर सदा-सदा के लिए सनाथ हो जाता है। साधना के क्रम में अपने ही विकारों का नाश करने की चेष्टा में साधक जब हारने लगता है, तब करुणामय की करुणा का दरवाजा खुलता है। बिना पुकारे भी वे अलख-अगोचर अदृश्य रूप से तत्काल ही साधक को उबार लेते हैं। यह जीवन का मंगलमय विधान है। श्री स्वामीजी महाराज का अनुभूत

सत्य है। इसका चमत्कार मैंने अनुभव किया है। इससे साधक को परम लाभ होता है। मेरे प्रभु मेरे अत्यन्त निकट हैं और बिना पुकारे भी गाढ़े संकट से उबार लेते हैं-इसका प्रत्यक्ष प्रमाण पाकर असमर्थ से असमर्थ साधक भी आश्वस्त हो जाता है।

आप देखिये, सत्य के पंथ में पराजय भी विजय है। बहुत बड़ी बात है। अपने दोषों को मिटाने में अपना बल काम नहीं करता है तो असमर्थता की वेदना से अहम् का अभिमान गलता है। अहम् शून्य होते ही अपने में विद्यमान सत्य अभिव्यक्त होता है। साधक अपनी साधना में बहुत आगे बढ़ जाता है, और उसे अभिमान भी नहीं होता है कि मैंने अपने को निर्दोष बना लिया। कैसी अनुपम करुणा है ? साधक को पवित्र भी बना दिया और पवित्र होने के अभिमान से भी बचा लिया। इस प्रकार अहम् शून्यता में सत्य की अभिव्यक्ति की रसमयी अनुभूतियों से अभिभूत होने के क्षण अनमोल हैं। ऐसे एक-एक क्षण पर अनेकों वर्षों के जप, तप, के फल न्यौछावर किये जा सकते हैं। यह सब संत-समागम में मुझे मिला है। धन्य है संत और धन्य है उनका समागम जो मानव जीवन को धन्य-धन्य कर देता है।

जिन संत प्रवर की शरण में बैठकर चरण धूलि के स्पर्श से मेरा जीवन मिट्टी से सोना बन गया उनके श्री चरणों में बारम्बार प्रणाम करके वाणी को विराम देती हूँ। अब शांत हो जाइये।

(45)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग जीवन की चर्चा कर रहे हैं। मनुष्य के जीवन में संसार से भी सम्बन्ध है और संसार के मालिक भगवान से भी संबंध है। अनुभवी सन्त ने हमें यह सलाह दी कि संसार से सम्बन्ध मानना भी साधन है और संसार से सम्बन्ध तोड़ना भी साधन है। सामान्य धारणा ऐसी होती है कि जो लोग आध्यात्मिक चिन्तन में लग जाते हैं

अथवा आन्तरिक विकास में लग जाते हैं, वे संसार के काम के नहीं रहते। लेकिन बात ऐसी नहीं है। सच्ची बात यह है कि जो संसार के माने हुये सम्बन्धों को ठीक तरह से निभा नहीं लेता, उससे संसार छोड़ा भी नहीं जाता। इसलिये महाराजी ने कहा कि संसार से सम्बन्ध मानना भी साधन है और संसार से सम्बन्ध तोड़ना भी साधन है।

संसार से सम्बन्ध मानना साधन कैसे बन सकता है ? इस प्रकार साधन बन सकता है कि हम लोग शरीरधारी हैं। शरीर को लेकर संसार में ही रहना है तो महल छोड़कर झोपड़ी में घुस जाओ तो कोई बात नहीं और झोपड़ी से निकलकर वृक्ष के नीचे बैठ जाओ तो कोई बात नहीं, और वहाँ से उठकर पहाड़ की गुफा में घुस जाओ तो कोई बात नहीं। जैसे महल संसार है वैसे ही झोंपड़ी संसार है, वैसे ही वृक्ष की छाया भी संसार है और पहाड़ की गुफा भी संसार है। शरीर को लेकर संसार के बाहर हम नहीं जा सकते। भौगोलिक और वैज्ञानिक अध्ययनों के आधार पर आप लोग इन सब बातों को जानते ही हैं कि यह मृत्युभवन पृथ्वी एवं कर्म लोक, इसके ऊपर दो सौ मील की ऊँचाई पर निकल जाओ तो प्राण वायु का अभाव हो जाता है। वहाँ शरीर को रखना मुश्किल हो जाता है। अर्थ क्या है ? जिन प्राकृतिक तथ्यों की सहायता से शरीर बनता है, उन्हीं प्राकृतिक सीमाओं के भीतर यह शरीर रह सकता है।

स्वामीजी महाराज ने यह कहा कि अपने कल्याण के लिये संसार को छोड़कर भागने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि तुम भाग ही नहीं सकते। जाओगे कहाँ ? शरीर और संसार का अविच्छिन्न संबंध है। संसार से सम्बन्ध मानना साधन कैसे बन सकता है ? इस सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि भोग दृष्टि छोड़ दो और भौतिक दृष्टि ग्रहण करो। जो लोग भौतिकवादी तथ्यों को स्वीकार करना पसन्द करें, उन्हें सोचना चाहिये कि सारा संसार एक इकाई है। एक ही धरती पर सबको आश्रय मिला है, एक ही आकाश के नीचे सबको अवकाश मिलता है। एक ही प्राणवायु से सबको श्वास मिलती है। एक ही सूर्य से सबको प्रकाश और ताप मिलता है। इस दृष्टि से सचमुच अगर आप

भौतिक दर्शन का अनुसरण करें तो आपको जगत् के नाते सभी को अपना मानना चाहिये। ठीक ही है कि जगत् के नाते सभी अपने हैं। क्योंकि व्यक्तिगत शरीर पर आपका अपना कोई अधिकार नहीं है। जैसे आप श्रोता होकर बैठे हैं और मैं बोलने का कार्य कर रही हूँ, लेकिन मेरे और आपके बीच में ध्वनि की लहरियाँ हैं। ये ध्वनि की लहरियाँ यहाँ से निकली हुई ध्वनि को ले जाकर आपके सुनने के यंत्र तक पहुँचाने वाली प्राकृतिक शक्ति है। यदि यह शक्ति बीच में काम न करे तो क्या बोलना और सुनना संभव होगा ? नहीं होगा। तब यह अभिमान गलत है कि प्रकृति की सहायता के बिना हम बोल सकते हैं और सुन सकते हैं। भौतिक दर्शन का अर्थ यह होता है कि जिन भाई-बहनों को जगत् को सत्य कहकर स्वीकार करना हो, उसी की सत्ता को लेकर आगे बढ़ना हो, उनको जगत् के नाते सभी शरीरधारियों को अपना मानना चाहिये। यह दर्शन नहीं है कि अपने सुख के लिये अन्य प्राणधारियों की परवाह न की जाये अथवा व्यक्तिगत-एक शरीर की रक्षा के लिये अन्य प्राणियों के साथ हिंसात्मक व्यवहार किया जाये।

संसार से सम्बन्ध मानना भी हितकर होता है। कैसे ? यदि आप भौतिक दर्शन का आश्रय लेना चाहते हैं तो जगत् के नाते सभी को अपना मानिये। अब आप कहेंगे कि एक परिवार के दस सदस्यों को अपना मानकर के ही जीवन चलाना कठिन हो रहा है, दस को ही खिलाना व रखना मुश्किल हो रहा है, सारे संसार को अपना मानने पर कैसे जियेंगे, क्या करेंगे ? सभी को अपना मानने का अर्थ यह नहीं है कि सारे संसार के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर आ जायेगा। मैं तो कहती हूँ कि अपने ही भीतर से निकली हुई साँस को एक बार हमने छोड़ दिया, तो फिर हम साँस ले सकेंगे कि नहीं- इतना भी अपने पर अधिकार नहीं है तो फिर यह कौन मुँह से कहेंगे कि सारे संसार का भार मुझ पर आ गया। सो बात नहीं है। लेकिन, जैसे एक शरीर की रक्षा अपने को प्रिय है वैसे ही जगत् के अन्य शरीरों की रक्षा भी अपने को प्रिय होनी चाहिये। जैसे एक शरीर को पीड़ा से बचाना चाहते हैं वैसे ही अन्य शरीरों को पीड़ा से बचाने की [illegible] भी [illegible]

चाहिये। तो काम तो हम कर सकेंगे बहुत थोड़े से शरीरों के साथ, लेकिन सद्‌भाव हम रख सकते हैं सारे विश्व के साथ। सबकी रक्षा हो, सबका भला हो, सबका कल्याण हो। इस दृष्टि से एक शरीर के समान अन्य शरीरों की सेवा को महत्त्व दो और जैसे अन्य शरीर अपने से दूर दिखाई देते हैं ऐसे ही दार्शनिक दृष्टिकोण से यह शरीर भी उतना ही दूर हैं। आपने ऊँचे दार्शनिक विवेचन को भी सुना होगा। जिस समय मैं बैठकर बोल रही हूँ शरीर को लेकर, और आप सुन रहे हैं शरीर को लेकर, उस समय भी श्रोता और वक्ता इस आकृति के भीतर कहीं कैद नहीं है। इस बात का बोध तो होता है शरीरों की असंगता के बाद, लेकिन इस दार्शनिक सत्य को हम सब भाई-बहनों को स्वीकार करके चलना चाहिये।

मैंने सन्त वाणी में ऐसा सुना कि यह जो 'मैं-पन' है हमारा, यह 'मैं' अगर इस आकृति के भीतर कहीं भी होता तो आज के युग के वैज्ञानिक ऐसा यंत्र बना लेते कि इस शरीर के विश्लेषण के द्वारा उस 'मैं' को पकड़ लेते। लेकिन इसके सूक्ष्म-से-सूक्ष्म अवयव को काट-छाँट करके, चीर-फाड़ करके, विश्लेषण करके analysis-synthesis करके देख लो, उसके भीतर कहीं भी 'मैं' नहीं मिलेगा। हाथ मिलेगा, पाँव मिलेगा, आँख मिलेगी, मस्तिष्क मिलेगा, हृदय मिलेगा, नाड़ियाँ मिलेंगी, रक्त-मज्जा-मांस मिलेगा, रक्त के कण मिलेंगे। कणों का विश्लेषण करो - हजारों उसके वर्ग मिलेंगे। यह सब मिलेंगे। लेकिन जो कहता है कि यह मेरा शरीर है, वह 'मैं' इसके भीतर कहीं नहीं मिलेगा। किसी भी दशा में यह शरीर जो है वह सदा ही आपसे भिन्न है।

महाराजजी ने कहा कि सेवा करने के लिये एक शरीर पर जैसी तुम्हारी दृष्टि रहती है ऐसी दृष्टि जगत् के नाते सभी शरीरों के लिये हो जाये तो तुम्हारा कल्याण हो जायेगा। व्यक्तिगत बात खत्म हो जायेगी और विश्वगत बात जीवन में आ जायेगी। उसके बाद क्या होता है ? कि जैसे अन्य शरीर दूर दिखाई देते हैं ऐसे ही यह शरीर सदा ही मुझसे दूर था, दूर है और दूर रहेगा। इसके साथ, इस शरीर के साथ 'मैं' का कभी भी Structural relation नहीं हुआ, रचनात्मक

सम्बन्ध नहीं हुआ। हमेशा ही Functional क्रियात्मक सम्बन्ध इसके साथ होता है। जब यह 'मैं' शरीर की सहायता से संसार के सुहावने दृश्यों को देखना पसन्द करता है तो शरीर के साथ क्रियात्मक सम्बन्ध इसका जुट जाता है। जब वह देखे हुए दृश्यों की ओर से विमुख होना पसन्द करता है तो ज्यों ही अपनी वृत्तियों को अन्तर्मुख करता है, दृश्य से सम्बन्ध टूट जाता है। यह अनुभूत सत्य है। इस दृष्टि से सेवा करने के लिये सारा संसार अपना है और सुख लेने के लिये यह शरीर भी अपना नहीं है - ऐसा सम्बन्ध जो मानेगा वह विकसित हो जायेगा, उसका कल्याण हो जायेगा।

दूसरी बात आती है ज्ञान और प्रेम की। सेवा के लिये सारा संसार अपना है, ऐसा मानोगे तो भी कल्याण हो जायेगा, व्यक्तिगत आसक्ति टूट जायेगी और शरीरों से सम्बन्ध तोड़ने की सामर्थ्य आ जायेगी। तीनों शरीरों से तादात्म्य टूटने के बाद अपने अविनाशी अस्तित्व का बोध भी हो जायेगा और आनन्द भी आ जायेगा। यह मानव जीवन का सत्य है। संसार से सम्बन्ध मानना कैसे साधन के रूप में बदल जाता है ?- यह हो गया। लेकिन इसके विपरीत हम लोग क्या करते हैं ? कि माता-पिता के साथ, बाल-बच्चों के साथ, भाई-बन्धुओं के साथ, नगरवासियों के साथ जहाँ-जहाँ भी हमने सम्बन्ध माना, उन सारे सम्बन्धियों के सहयोग से अपनी भूख मिटाने के प्रयास में, सबसे कुछ न कुछ लेने की आशा रखते हैं। इसी कारण से अविनाशी जीवन का आनन्द नहीं आता है। पराधीनता का अपमान सताता है। इस पराधीनता के लिये हम लोगों ने संसार से सम्बन्ध नहीं जोड़ा है।

जिस पराधीनता से विवश होकर मुझे जन्म लेना पड़ा है, जिन वासनाओं से प्रेरित होकर मेरी इच्छा शक्ति ने एक शरीर के नाश होने के बाद, मृत्यु-भवन की भीतरी सीमा में, वायु-मण्डल में कुछ काल विराम करके नये शरीर के लिये मिट्टी-पानी इकट्ठा किया है उन इच्छाओं, उन वासनाओं का अन्त करने के लिये, अपने लोगों को संसार से सम्बन्ध रखना है। जिसको जो कुछ देते बने, मीठा वचन, [illegible]

को जो कुछ देते बने, सधन्यवाद देते जाओ और विनयपूर्वक सबसे क्षमा लेते जाओ। ऐसा नहीं कि हम परिवार के बड़े earning member हैं, बहुत धन कमाने वाले हैं, अतः सब लोगों को मिलकर हमारी खातिर करनी चाहिये, आज्ञा माननी चाहिये और हमारे इशारे पर उठना-बैठना चाहिये। ऐसी इच्छा जिसने की वह संसार की पराधीनता से छूट नहीं सकेगा। कभी नहीं छूटेगा।

आत्मज्ञान और अविनाशी जीवन और अशरीरी अस्तित्व का आनन्द यह सब ग्रन्थों में लिखा पड़ा रहेगा, व्यक्ति के काम नहीं आयेगा। लेकिन शरीरधारी, संसार में रहने वाला व्यक्ति यदि माने हुए सम्बन्धों के अनुसार अपना कर्त्तव्य पूरा करता जायेगा और भीतर से बदले में कुछ भी लेने की आशा को छोड़ता जायेगा, वह शरीर के रहते-रहते अशरीरी जीवन के आनन्द को पाकर के सदा-सदा के लिये जन्म-मरण की बाध्यता से छूट जायेगा।

इस प्रकार माने हुये सम्बन्ध के अनुसार सारा जगत् अपना है, जगत् के नाते सभी अपने हैं। सबके प्रति सद्भाव और सहयोग रखने वाला साधक है। ऐसा सम्बन्ध मानना साधन है। किसी से अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। क्यों ? क्योंकि मुझे तो अमरत्व चाहिये और मुझे जो अगाध, अनन्त, परम पवित्र प्रेम रस की मधुरता चाहिये, वह संसार के सम्बन्धी दे नहीं सकते। सारा संसार मिलकर मेरा दुःख नहीं मिटा सकता। इसलिये मुझे संसार से कुछ नहीं चाहिये। तो काम आने के लिये सभी अपने हैं और अपने सुख की आशा के लिये कोई अपना नहीं है। सेवा करने के लिये सभी अपने हैं। इस प्रकार से सम्बन्ध मानना साधन हो गया। सुख लेने के लिये कोई अपना नहीं है तो सम्बन्ध तोड़ना साधन बन गया। यह हो गया संसार के सम्बन्ध में।

परमात्मा के साथ क्या करना है अपने लोगों को ? तो सुना है ऐसा हम लोगों ने, कि परमात्मा सब प्रकार से परिपूर्ण है। उनको अपने स्वतंत्र अस्तित्व के लिये किसी प्रकार की कहीं से भी सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है। जो परम स्वतन्त्र है, सब प्रकार से पूर्ण है,

अनन्त ऐश्वर्यवान है, माधुर्यवान है, अनन्त सौन्दर्यवान है, उसी का नाम है-परमात्मा। इनमें से किसी प्रकार की विशेषता उसकी घट जाये तो हम लोग उसको परमात्मा नहीं कहेंगे। इन सारी विशेषताओं से विभूषित जो है, उसका नाम है परमात्मा। उस परमात्मा के साथ हमारे जैसे जन्म-मरण की सीमा में बँधे हुये व्यक्तियों का क्या सम्बन्ध हो सकता है, ऐसा सोचकर देखो ? तो एक तो पक्की जानी हुई बात यह है कि उसकी सत्ता से हम लोगों को सत्ता मिली है।

महाराजजी ने एक जगह पर ऐसे कहा - भाई देखो ! विचार करो ! गेहूँ उपजा था खेत में, धरती में, सेवार उपजी थी जल में-अब सोचकर देखो, यह 'मैं' कहाँ उपजा ? इसके उपजने के लिये न जल पर्याप्त है, न थल पर्याप्त है। इस 'मैं' की उत्पत्ति हुई थी उस अनन्त परमात्मा में से। एक सम्बन्ध तो यह ही पक्का है कि उसी में से हमारी उत्पत्ति हुई है, उसी में हम स्थित हैं और साधना के बाद जब असत्य की निवृत्ति हो जायेगी, जब शरीरों से तादात्म्य टूट जायेगा तो हम सदा-सदा के लिये अभिन्न होंगे उसी से। आदि, अन्त और मध्य हमारा सब उसी पर आश्रित है। यह बात तो दार्शनिक दृष्टिकोण से बिल्कुल पक्की है। मैं मानूँ तब भी, न मानूँ तब भी। साधना करूँ तब भी, न करूँ तब भी। सेवा करूँ तब भी, न करूँ तब भी। स्वार्थपरता में रहूँ तब भी। उसके साथ ऐसा नित्य संबंध है कि उसके बिना हमारी सत्ता ही नहीं हो सकती, हमारा अस्तित्व ही नहीं रह सकता। यह तथ्य मेरे भूलकाल में भी बदलता नहीं है। उससे विमुख हो जाने का परिणाम क्या होता है ? कि अनुकूल परिस्थितियों में सुख भोगने में हम डूब जाते हैं, और प्रतिकूल परिस्थितियों में अधीर होकर रोने लगते हैं। और फिर हार मान कर व्यक्ति कहने लगता है, "यह सांध्य ऊषा का आँगन, आलिंगन विरह-मिलन का। चिरहास्य अश्रुमय आनन रे इस मानव जीवन का" बहुत पहले का पढ़ा हुआ पद्य खण्ड है यह-पढ़कर हम सोच लेते थे कि बस ऐसा ही है। हास्य और अश्रु से ही पूर्ण रहेगा मानव का आनन, मानव का मुखड़ा। कुछ लोग तो ऐसे ही हार मान लेते हैं, और जो सचेत होते हैं, जो विवेक के प्रकाश में बदलती हुई

परिस्थितियों के पीछे एक अपरिवर्तनीय अस्तित्व की सत्ता को स्वीकार करते हैं, वे हार नहीं मानते। ऐसे समस्त परिवर्तनशील दृश्यों के पीछे एक मौलिक आधार है इस समग्र विश्व का, उस अपरिवर्तनीय सत्य को स्वीकार करके फिर उससे अभिन्न होने की साधना में लग जाते हैं।

सन्तजन कहते हैं कि यदि अविनाशी जीवन की आवश्यकता अनुभव करते हो तो अविनाशी केवल परमात्मा है और उससे तुम्हारा सदा-सदा का सम्बन्ध है। नया सम्बन्ध बनाना नहीं है, पहले से है। तुम आज अपनी आवश्यकता देखकर उस नित्य-सम्बन्ध को स्वीकार कर लो। सम्बन्ध की स्वीकृति का परिणाम यह होगा कि उससे तुम्हारी आत्मीयता हो जायेगी। जिसको व्यक्ति अपना मानता है वह अपने को प्रिय लगता है। जब परमात्मा आपको प्रिय लगेगा तो इस प्रियता के आधार पर वह तुम्हारा अन्तःवासी परमात्मा तुम्हारे ही भीतर प्रकट होकर तुम्हारी सारी मौलिक आवश्यकताओं को पूर्ण कर देगा।

जो लोग संसार की परिवर्तनशीलता को सहन नहीं करते वे एक निश्चित आधार पकड़ लेते हैं। मान लेते हैं कि यह जो कुछ भी दिखाई दे रहा है, चलचित्र की भाँति क्षण-क्षण में बदल रहा है, इस सबका आधार परमात्मा है। उसी परमात्मा से मेरा नित्य सम्बन्ध है, और अब मैं उसी परमात्मा का होकर रहना पसन्द करूँ। यह व्रत है मनुष्य के जीवन का और जैसे ही ईश्वर विश्वास के आधार पर व्यक्ति परमात्मा को अपना आश्रय बना लेता है, उसमें विश्वास कर लेता है, उससे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेता है तो बिना जप-तप के, बिना उपवास किये और भूखे-नंगे रहे, बिना वस्त्र बदले उसके भीतर जो नित्य तत्व है, जो अविनाशी अहं है अपना 'मैं-पन', उस 'मैं-पन' में ही ईश्वर की विभूतियाँ अभिव्यक्त होने लगती हैं।

यह साधन काल की बात मैं कह रही हूँ, सिद्ध-जीवन की चर्चा तो सिद्ध पुरुष जानें। आज जब मेरी दृष्टि पर, जब मेरे Perceptual apparatus पर बाह्य जगत की उत्तेजनाओं का प्रभाव होता है, और

वह प्रभाव मस्तिष्क के ज्ञान-केन्द्र में ले जाया जाता है, तो अपने को बाह्य जगत का प्रत्यक्षीकरण होता है। इन सारे यन्त्रों पर बाह्य जगत की उत्तेजनाओं का प्रभाव चढ़ा रहता है। तब तो ईश्वर का कहीं पता नहीं चलता। अत्यन्त रहस्यमय। अत्यन्त छिपा हुआ। कुछ पता नहीं चलता कि कहाँ है ? कैसा है ? है कि नहीं है ? क्या करता है ? बड़ा अद्भुत लगता है। लेकिन बुद्धि का आश्रय छोड़कर, इन्द्रियों का आश्रय छोड़कर, संसार का सहारा छोड़कर जिन महानुभावों ने, हृदयशील व्यक्तियों ने उस अनन्त परमात्मा का आश्रय स्वीकार किया, उससे अपना नित्य सम्बन्ध माना, उनके साधनकाल में ही वही परमात्मा उनके हृदय में प्रकट होकर यह विश्वास दिला देता है कि जिसके बिना तुम व्याकुल-व्याकुल फिर रहे हो वह 'मैं' तुम्हारे भीतर ही विद्यमान है। यह अनुभव करा देते हैं परमात्मा। उनकी मौज है।

मुझे जब समझाया जा रहा था ईश्वर के सम्बन्ध में, तो किसी भी तरह से माना ही न जाए। अब मानें कैसे ? अब आगे बढ़ें कैसे ? तो महाराजजी ने कहा कि देवकीजी, परमात्मा तो सदा से जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। उनको जनाना-बताना-सुनाना थोड़े ही है, जो तुम सोचती हो कैसे बताऊँ, कैसे सुनाऊँ, कहाँ पाऊँ ? सो नहीं। उनको जनाने की बात नहीं। उनको सुनाने की बात नहीं। वे तो पहले से जानते ही हैं कि तुम उनकी अपनी हो। लाली, बस एक काम तुम अपनी ओर से करो। मेरे कहने से तुम उनको अपना मान लो। बस, इतना-सा पुरुषार्थ तुम करो। बाकी तो सब उनको मालूम ही है, वे करेंगे ही।

तो मैं क्या बताऊँ ? मेरी जो उलझी हुई बुद्धि थी पढ़ने-लिखने की और साहित्य, दर्शन और मनोविज्ञान के अध्ययन का प्रभाव जो था, उसने तो मुझको भ्रमित-चकित कर दिया था। अपनी ओर से तो मैं कुछ नहीं कर सकी, लेकिन एक बात जो महाराजजी के सिद्धान्त में मिली, वही सत्य सिद्ध हुई - कि कैसा भी साधक क्यों न हो, वह अपनी असमर्थता से पीड़ित होता है तो करुणामय की करुणा का दरवाजा खुल जाता है। तो मेरे सोचने से काम बन गया, ऐसा नहीं कह सकती।

मेरे त्याग-तप से शक्ति आ गई, ऐसा नहीं कह सकती। लेकिन मेरी जो वह अन्तरव्यथा थी कि अब क्या करूँ ?- उस पीड़ा से सन्त के हृदय में करुणा द्रवित हुई। मेरी उस दर्दनाक दशा से, करुणा सिन्धु-परमात्मा में करुणा द्रवित हुई और उन लोगों ने कृपा की होगी - ऐसा मेरा अन्दाज है, इसलिये कि यह असमंजस बिना मेरे प्रयास के अपने आप से मिट गया। तो मैं अपने आप सोचने लग गई कि हाँ, ठीक है, महाराजजी जो कहते हैं कि अपनी असमर्थता से अधीर हो जाता है साधक, उसके भीतर अपनी भूल की ग्लानि पैदा हो जाती है तो उसके हृदय की वेदना वे परम कृपालु सह नहीं सकते। तो जैसी मेरी उग्र प्रकृति थी, विरोधी मनोवृत्ति परमात्मा के प्रति, तो मैंने पुकारा नहीं, कहा नहीं, कि मेरी मदद करो। कहने का तो मन ही नहीं था। लेकिन मैं क्या बताऊँ, सन्त और भगवन्त की कृपालुता जो है, वह माँगने से मिलती हो, ऐसी बात नहीं है - इसलिये उसके आगे विशेषण लगता है-अहैतुकी। किसी हेतु से कृपा होती हो, ऐसी बात नहीं है, सन्त ने भगवन्त ने मुझको मनवा दिया - तो मान लिया।

सन्त की वाणी में कुछ विशेष प्रकार का जादू होता है। महाराजजी की वाणी के प्रभाव से, जब से मैंने इस बात को माना, मेरे भीतर से दुःख का भार तो उतर गया और इस बात की भी चिन्ता नहीं रही कि मुझको साधना के क्षेत्र में अपने पुरुषार्थ से, अपने बल से चलना है। यह भय भी चला गया। एकदम निश्चिन्तता आ गई। मैंने कहा, ठीक है। जब उनको भी मेरा ध्यान है, और उन्हें स्वीकार करने की तत्परता है, तब तो बहुत बढ़िया बात है महाराज।

जीवन बढ़ता रहा। पलता रहा। अब आज अपने भाई-बहनों की सेवा में, मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि सच्ची बात तो यह है कि हम लोगों की जो दुविधा की दशा है - कभी संसार अच्छा लगे, कभी परमात्मा अच्छा लगे - इस दुविधा की दशा में परमात्मा से मिलने की उत्कण्ठा जो है, वह प्रबल नहीं है, कुण्ठित है। परन्तु उनकी ओर से मुझको संभालने की उत्कण्ठा कुण्ठित नहीं है। बड़ी लगन है उनमें और कभी-कभी महाराज हँस कर कह देते कि देवकीजी, हाथी के मुख

में गन्ना पकड़ा देना आसान है, निकाल पाना आसान नहीं। अगर तुमने किसी भी कारण से प्रेरित होकर एक बार कह दिया, 'हे प्रभु ! मैं तेरी।' तो अब तुम छूटने वाली नहीं हो लाली। वह छोड़ेगा नहीं, पूरा ही करेगा। तो अनुभवी सन्त की यह वाणी कि "शिशु को माँ की जितनी आवश्यकता है", आगे चलकर मुझे ऐसा लगने लगा कि माँ को शिशु की उससे अधिक आवश्यकता है।

अब तीसरा प्रश्न उठा कि मैं उनको किस हैसियत से अपना कहूँ? कौन सा सम्बन्ध स्वीकार करूँ ? कैसे हम उनको उस सम्बन्ध के अनुसार प्यार करें, लाड़ लड़ायें ? अपने पास तो कुछ है ही नहीं। सब तो यहाँ खो दिया है। संत कबीर का पद मैं दुहराया करती महाराजजी के सामने -"यह संसार हाट बनिया को, सौदा करने आया। चतुरन माल चौगुनों कीनों, मूरख मूल गँवाया" मैं तो मूल गँवाकर बैठ गई महाराज ! अब कैसे क्या होगा ? तो महाराजजी कभी-कभी हँस करके अपने जीवन की चर्चा सुना देते और कहते, "देखो भाई, हम कैसे हैं, यह परमात्मा देखता नहीं है। हम कैसे हैं, यह वह क्या देखे। हम जैसे हैं वैसे हैं। एक बात उन्हें मालूम है पक्की तौर से कि उन्होंने अपने में से ही हमारा निर्माण किया है। देवकीजी, तुमको बनाने के लिये भगवान ने कोई Material (मेटीरियल) बाहर से उधार नहीं मँगवाया। अपने में से ही तुमको बनाया है।" तो जो अपना ही अंश है, अपना ही आत्मीय है, वह कैसा है, यह कोई देखता है ? काला है कि गोरा है ? पुण्यात्मा है कि पापात्मा ? पढ़ा-लिखा है कि बेपढ़ा-लिखा ? समर्थ है कि असमर्थ है ? कौन देखे ? जैसा भी है उनका आत्मीय है। उनका अपना ही है। महाराज अपने लिये कहते कि "मुझ जैसे अकिंचन, असमर्थ की मित्रता अगर वे स्वीकार न करते (मित्रता का सम्बन्ध महाराजजी का था भगवान के साथ) तो लाला रह जाते ठन-ठन पाल मदन गोपाल।" प्यार करने के लिये कोई साथी मिलेगा ही नहीं। क्यों ? क्योंकि परमात्मा को अगर बराबर वाले से सम्बन्ध जोड़कर प्रेम का आदान-प्रदान करना है तो परमात्मा के बराबर क्या दूसरा परमात्मा है ? नहीं है। तो रह जायेंगे न अकेले ·

प्रेमस्वरूप जो उनका है, उस प्रेमस्वरूप का आनन्द उस प्रेमस्वरूप की लहरियाँ इस धरातल पर, इस मृत्युभुवन में फैलेंगी कैसे ? भव रोगों से तापित हृदयों को शान्ति प्रदान करेंगे कैसे ? नहीं कर सकेंगे।

आप कहेंगे कि अवतार लेकर आयेंगे, खुद करेंगे। तो महाराजजी कहते कि भाई, रावण और कंस को मारने के लिये थोड़े ही उनको कुछ करना था। गोस्वामीजी ने लिखा है, "भृकुटि विलास सृष्टिलय होई"। जिसके संकल्प मात्र से सारी सृष्टि भस्म हो सकती है उसको रावण और कंस को मारने के लिये अवतार ग्रहण करने की क्या आवश्यकता थी ? लेकिन क्यों आये ? इसलिये कि शबरी मैया के झूठे बेर कैसे खायेंगे। वहाँ तो भृकुटि विलास से काम नहीं चल सकता है। वह स्वाद तो शासक बनने से नहीं आ सकता है। विदुरानी के केले के छिलके में जो मजा आया, वहाँ गोलोक-साकेत में बैठे-बैठे मृत्यु का चक्र चलाकर रावण और कंस को मारने में वह मजा कैसे आता ?

तो महाराज कहते कि इस प्रेम के भूखे, इस प्रेम के विस्तार के लिये जो हमेशा ही लालायित हैं उनको भी जरूरत है, मानव हृदय के स्नेह-सद्भाव की। जहाँ किसी ने अपनी ओर से कहा कि बस हो गया, तुम्हारे इस लुभावने, सुहावने संसार के खिलौनों से मैंने खेल लिया। अब तो तुम्हारा प्रेम रस चाहिये। तुम्हारी सन्निधि चाहिये। तो जहाँ मनुष्य के भीतर हृदय में आवश्यकता उत्पन्न हुई नहीं कि वे प्रेमस्वरूप परमात्मा उस अभिलाषी के हृदय की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिये, जैसे-जैसे वह विश्वास कर सकता है उसके विश्वास की वृद्धि का काम तत्काल आरम्भ कर देते हैं। ऐसा नहीं कि बहुत दिन तक सोचना पड़े, प्रतीक्षा करनी पड़े। ऐसा भी नहीं कि साधन की पूर्णता तक आपको ठहरना पड़े। एक ओर असाधनों का नाश होता रहेगा, विकारों का नाश होता रहेगा, दूसरी ओर उनके प्रेम का प्रकाश होता रहेगा। सब साथ-साथ चलने लग जाता है।

संयोग-वियोग से रहित नित्य मिलन की कथा तो अपार है। जिन भाग्यशीलों ने उनको अपना माना और किसी बात के लिये नहीं,

केवल प्रेम के लिये ही, उन पर वे परम प्रेमास्पद स्वयं को न्यौछावर करते हैं। एक बार चर्चा करते हुये महाराजजी की वाणी से एक वाक्य निकला कि "देखो तो, उनका प्रेमी स्वभाव तो देखो। मानव हृदय के प्रेम का आदर करने के लिये वह अखिल कोटि ब्रह्माण्ड नायक, पूर्ण ब्रह्म परमात्मा, ब्रह्म भाव का त्याग करके जीव भाव स्वीकार करके तुम्हारे पास आता है और उसको प्रेम प्रदान करने के लिये तुम अपनी तुच्छ कामनाओं का त्याग नहीं कर सकते ?" अगर करते हो तो उसकी तुलना में ज्यादा किया कि कम किया ?

ईश्वरवाद ऐसा ठोस तत्त्व है इस जीवन का कि कहने-सुनने की बात नहीं है, अनुभव करो। अनुभव करने से ऐसा प्रमाणित हो जाता है कि वही सत्य है, वही सब कुछ है, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। शान्त ।

(46)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

प्रभु विश्वासी साधक के सम्बन्ध में बहुत बढ़िया-बढ़िया बातें हम सुन रहे थे। अपने को सामने रखकर थोड़ा विचार किया जाए। ईश्वर में विश्वास करने वाले हम लोग हैं। उस विश्वास के आधार पर क्या हमारा ईश्वर के अतिरिक्त और सब जगह से मन हट गया ? ऐसा प्रश्न रखा जाये अपने सामने। क्या भगवान के अतिरिक्त और किसी से हमारा सम्बन्ध नहीं रहा ? उनकी महिमा के बल से हमारी सब चिन्तायें, हमारा सब भय मिट गया ?- ऐसा प्रश्न अपन लोगों को अपने सामने रख कर सोचना चाहिये, अपने से पूछना चाहिये। इसके उत्तर से जीवन में खूब जागृति आ सकती है। कितना अच्छा लग रहा है, श्री महाराजजी जब कह रहे हैं कि प्रभु विश्वासी साधकों का सिवाय परमात्मा के और किसी से सम्बन्ध रह ही नहीं जाता। अन्य किसी से सम्बन्ध नहीं रहता है तो अन्य किसी का चिन्तन भी कभी नहीं होता है। वे परमात्मा को अपना मानते हैं और उनको हर प्रकार से पूर्ण

मानते हैं, अपना हितैषी मानते हैं, अपना प्रिय मानते हैं। इसलिये वे सिवाय परमात्मा के प्रेम के अपने लिये और कुछ चाहते भी नहीं हैं। अब सोचा जाए, कि मैंने भी ईश्वर में विश्वास किया है, मुझे भी ईश्वरीय प्रेम का मधुर रस अभीष्ट है। तो ईश्वरीय प्रेम रस के अलावा और भी अपनी कुछ चाह है क्या ? और भी अपना कोई संकल्प है क्या? ऐसा सोचने से मालूम होता है कि और भी संकल्प हैं। अगर और संकल्प न होते और कोई चाह न होती तो पता नहीं कब का यह सीमित अहं रूपी अणु ईश्वरीय प्रेम बन कर प्रेमास्पद में समा गया होता। अब तक यह काम पूरा हो गया होता।

लेकिन अपनी वर्तमान दशा देखने से ऐसा लगता है कि अभी तक यह काम पूरा हुआ नहीं है, अर्थात् ईश्वर विश्वास को, ईश्वरीय सम्बन्ध को और विधि-विधान से भजन-पूजन करने को मैंने अपना सम्पूर्ण जीवन नहीं बनाया है। सम्पूर्ण जीवन का एक अंग बनाया है। प्रातःकाल उठ करके स्नान आदि करने के बाद भगवद्-पूजन मेरे जीवन का एक आवश्यक अंग बन गया है। उनमें विश्वास करना उनसे सम्बन्ध मानना - यह भी एक आवश्यक अंग बन गया है।

फिर क्या होता है, कि यह बात सब समय जीवन में नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त भी अपने को कुछ और चाहिये। क्या चाहिये ? अपनी पसन्दगी के अनुसार रहन-सहन चाहिये, पसन्दगी के अनुसार खान-पान चाहिये और मन बहलाने के लिये और दूसरा-दूसरा काम भी चाहिये और जिस समाज में रहते हैं उसमें अपनी प्रतिष्ठा भी चाहिये। बहुत-सी बातें चाहिये और ईश्वरविश्वासी बन कर भगवद् भक्ति के आधार पर जीवन को आगे बढ़ाने की अभिलाषा ले करके भी दृष्टिकोण ऐसा है कि इस दुनिया में जो कुछ अपने को अच्छा लगने लायक मिल गया है - वह सब तो बना रहे और उसके साथ-साथ ईश्वर की भक्ति भी मिल जाये। ऐसा आज तक हुआ नहीं, हो सकता नहीं।

श्री महाराजजी कभी-कभी हँस करके विनोद की भाषा में कहते कि देवकीजी, परमात्मा इतने प्यारे हैं-इतने प्यारे हैं, इतना प्रेमी

स्वभाव है उनका, कि वे किसी और के साथ साधक के दिल में घुसते ही नहीं हैं। उनको अकेले ही घुसना पसन्द है और फिर कहते कि वे इतने विशाल हैं, इतने महान हैं, इतने बड़े, असीम, अनन्त हैं कि अगर तुम्हारे दिल में एक तिनके के लिये भी ममता शेष रह गई है तो वे उसमें समायेंगे नहीं। लाली, अपने को खाली कर दो एकदम। किसी चीज की ममता न रहे, किसी बात की कामना न रहे। ये सब दिल में से पूरे निकाल दो। अपने को एकदम खाली कर दो। तब ऐसे हृदय में आकर उनको प्रेम का आदान-प्रदान करना प्रिय लगता है।

अपने जीवन में अभी तक उस ईश्वरीय प्रेम का प्रभाव इतना नहीं हुआ है कि अपनी पसन्दगी का खान-पान हम भूल जाते, अपनी पसन्दगी के रहन-सहन को हम भूल जाते, अपने भीतर से सिवाय प्रभु की प्रसन्नता के और कोई संकल्प ही न उठता। ऐसा हुआ ही नहीं अब तक। तो मालूम होता है कि अपनी साधना में कहीं-न-कहीं, कोई-न-कोई त्रुटि हमने रखी है और उसको दूर करना हम सभी ईश्वर-विश्वासियों का वर्तमान का पुरुषार्थ है।

महाराजजी बता रहे थे कि प्रभुविश्वासी साधक जो होते हैं, उनका कोई अपना संकल्प नहीं रहता। उनके लिए प्रभु की प्रसन्नता ही अपनी प्रसन्नता है। वे जैसे चाहें, जिसमें उनको प्रसन्नता हो, सो करें। इसका अर्थ क्या निकला ? कि उनके पास अपना मन ही नहीं रहता। जब तक अपना मन हमारे पास है तब तक हम प्रभु की प्रसन्नता के योग्य अपने को बना ही नहीं सकते। यही कारण है कि ईश्वरविश्वासी होते हुए भी हम अपना संकल्प भी रखते हैं-अपना मन भी रखते हैं और उस मन की गुलामी भी अपने में रखते हैं, उस मन का अनुसरण भी करते हैं और फिर उस मन को आज्ञा देते हैं कि तुम चले जाओ प्रभु के पास। तो यह कभी होना संभव नहीं है। यह भी एक खास बात है। ऐसा क्यों है ? मैंने सोचा तो मेरे ध्यान में आया कि ईश्वरविश्वास को हमने जीवन नहीं बनाया है। जीवन कुछ और है और ईश्वरविश्वास उसका साधन बन गया है, कुछ उपाय के रूप में बन गया है तो ऐसा जब तक रहता है तब तक उसमें सजीवता नहीं आती।

महाराजजी कहते हैं कि ईश्वर के अतिरिक्त अनेकों से जब हम सम्बन्ध रखते हैं, जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध नहीं है उससे सम्बन्ध जब मानते रहते हैं तो मन बेचारा भी जाता है उन्हीं सब जगहों पर। सोचो, हम लोग 'पर' से सम्बन्ध रखेंगे, 'पर' में विश्वास करेंगे, 'पर' के अधीन रहेंगे - पराश्रित होकर जियेंगे तो जहाँ-जहाँ हमारा अटकाव है - उन सब जगहों पर मन जायेगा ही। लेकिन एक बात है। 'पर' की ओर मन जाता रहता है और हटता भी रहता है। सदा के लिये दृश्य जगत के किसी भी दृश्य और वस्तु पर मन लगता नहीं है। स्वभाव से वह लगता नहीं है। मेरी भूल से वस्तुओं की याद आती है- ऐसा कहो, अथवा ऐसा कहो कि उन सब जगहों में मन जाता है जहाँ-जहाँ हमारी पसन्दगी है, और परमात्मा की पसन्दगी जब जीवन में आती है तब वह परमात्मा में जाता है। परन्तु उनमें एकबार जब मन चला जाता है, तो फिर वहाँ से हटता नहीं है। यह जीवन का एक बड़ा भारी सत्य है। क्या ? कि जब भगवान को हम लोग पसन्द करेंगे और केवल उन्हीं से सम्बन्ध रखेंगे तो उनमें मन लगेगा और फिर वहाँ से हटेगा नहीं, अपितु सदा के लिये उनमें लग जाएगा। भगवत भक्त तो बिल्कुल अमन हो जाता है। उसके पास उसका मन रहता ही नहीं है। उसको कभी भी अपने पर दबाव नहीं डालना पड़ता है कि अब मन को इधर से हटाना चाहिए और अन्यत्र लगाना चाहिए।

जब साधक ईश्वर को छोड़ कर 'पर' को पसन्द करता है, पराश्रित होकर रहता है, संसार को पसन्द करता है तो मन बेचारा जगह-जगह भटकता फिरता है, लेकिन कहीं पर भी स्थिर नहीं होता है, क्योंकि किसी में जा करके वह सदा के लिये लय हो जाये - ऐसा नहीं होता है।

अब अपनी दशा हम लोग देखें कि दस मिनिट के लिये, पन्द्रह मिनिट के लिये अथवा आधे घंटे के लिये, जो शांत रहने का नियम है, उसके अतिरिक्त भी आप और कभी शांत रहते होंगे। अलग-अलग अनुभव होता होगा। नियम बना के हम लोगों ने थोड़ा समय रखा है शांति सम्पादन के लिये। पन्द्रह मिनिट लगातार अथवा आधा घंटा

लगातार शांति का समय कैसे निकलता है ? अगर सोच कर देखो तो ईश्वरविश्वास की दृष्टि से प्रभु की कृपा शक्ति का आश्रय लेकर जब हम उनके समर्पित हो जाते हैं और उस काल में अपने को बिल्कुल अप्रयत्न छोड़ देते हैं तो वह पूरा समय क्या प्यारे प्रभु की कृपा की अनुभूति में बीतता है ? उनकी कृपा की प्रतीक्षा में बीतता है कि उसके बीच-बीच में और भी कोई बात आती है ?- ऐसा सोच कर देखिये।

आपने स्वयं अपने द्वारा अनुभव किया होगा कि एक-आधे घंटे का समय भी लगातार प्रभु की कृपा की प्रतीक्षा की गहराई में बीत जाता हो - ऐसा सब समय नहीं होता है। उनकी प्रीति के रस में समय का भास खत्म हो जाता हो, ऐसा भी सब समय नहीं होता है। किसी-किसी समय होता भी है। कितनी देर हो गई, इसका पता नहीं चलता है। लेकिन सब समय ऐसा नहीं होता तो इसका अर्थ क्या है ? कि अभी तक भी हमारा प्रयास ही चल रहा है, अभी तक भी यह साधन जीवन नहीं बन पाया है तब मैंने सोचा कि जो-जो बातें महाराजजी ईश्वरविश्वास के लिये बहुत सहज स्वाभाविक बता रहे हैं, वे बातें अगर मेरे लिये सहज स्वाभाविक नहीं हुई हैं तो इसका कारण ढूँढ़ना चाहिये। कितनी तत्परता चाहिये इस दिशा में कि जहाँ-जहाँ भूल है-उसको मिटाकर जल्दी-जल्दी हम भक्त बन जायें।

अब एक Psychological बात है। बहुत ऊँची दार्शनिक बात नहीं है, लेकिन फिर भी आवश्यक है। देखिये, हमारा मन रस का प्यासा है। जहाँ-जहाँ उसे नीरसता सताती है, वहाँ-वहाँ से वह हटता रहता है। किसी भी जगह कोई पुस्तक पढ़ने बैठ जाइये, कोई काम करने लग जाइये ! जब तक काम करने में थोड़ी कठिनाई रहती है तब तक तो मन भी उसमें लगता है, ध्यान भी उसमें लगता है और थोड़ी देर के बाद काम करते-करते पाँच-दस मिनट के बाद वह सैट (set) हो गया, अच्छी तरह से हाथ चलने लगा तो सचमुच जब किया जाने वाला कार्य कारक अंगों के स्तर पर आ जाता है - Motor setting हो जाती है, तब सोच कर देखिए कि उसके बाद पूरा मन काम में रहता है या इधर-उधर उड़ने लगता है ? जी ? इधर-उधर

उड़ने लगता है तो ऐसी क्या बात हो गई ? अपने जीवन की दशा तो देखो। काम करने लगो तो काम में भी पूरा मन न लगे, शांत रहो तो शांति में भी पूरा मन न बैठे। ऐसा क्या हो गया भाई ? कहीं न कहीं, कोई न कोई भूल है जरूर। नहीं तो होना चाहिये ऐसा कि जब हम काम करने लग जाते हैं तो इतने मनोयोग से काम करें कि कर्मयोग सिद्ध हो जाये और काम करना छोड़ करके शांत हो जायें तो इस प्रकार से शांत हो जायें कि बिल्कुल ज्ञानयोग सिद्ध हो जाये। प्रभु की याद आवे तो इतनी तीव्रता से आवे कि उसके मधुर रस में शरीर और संसार सबकी याद खो जाये। भक्तियोग सिद्ध हो जाये।

होना तो ऐसा चाहिये। लेकिन ऐसा होता कब है ? जब हमारे जीवन में विभाजन नहीं रहता, तब ऐसा होता है। अभी हमारे जीवन में विभाजन है। एक इष्ट नहीं है। मंत्र दीक्षा भी हो गई। कोई पूछे कि आपके इष्ट कौन हैं तो अपने इष्ट का नाम रूप हम बता सकते हैं। लेकिन अपने जीवन को अपने द्वारा देखें तो मालूम होता है कि अभी तक मेरा एक इष्ट नहीं है। नहीं तो पूरा ध्यान उनमें लग गया होता, उनके अतिरिक्त और किसी का चिंतन न होता। उनकी याद में इतनी सरसता आ जाती कि फिर अपने किसी संकल्प का पता ही नहीं चलता, अपना कोई संकल्प ही नहीं उठता, अपने पर अपने अधिकार की कोई बात ही सामने नहीं आती। ये सारी बातें बिल्कुल सहज स्वाभाविक हो गई होतीं।

सत्संग का अर्थ क्या है ? सत्संग का अर्थ है जीवन के सत्य को स्वीकार करना और अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करना। अब देखिये, जहाँ-जहाँ अपनी भूल मालूम होती है, उसको हम लोग सुधारते जायें और सत्यस्वरूप जो स्वीकृतियां हैं, उनको दोहराते जायें; उनको दृढ़तापूर्वक धारण करें और उसी के आधार पर जीना आरम्भ करें तो अपने में जो कमी रह गई है वह कमी दूर हो जायेगी और साधना सजीव हो जायेगी।

जितने अच्छे-अच्छे भक्त हुए हैं, उनके सम्बन्ध में ऐसा ही देखा और सुना गया। अनुभव तो उन्होंने स्वयं ही किया होगा। उनका

अनुभव कैसा था, उसको हम लोग बाहर से क्या जानें ? लेकिन जो कुछ देखा, सुना गया, वह ऐसा मालूम होता है कि भक्त प्रभु को प्यार करते हैं। इससे भी अधिक गहरी बात यह होती है कि परमात्मा स्वयं भक्तों को प्यार करते हैं। प्रेम का आदान-प्रदान होता है और वह दोनों ओर से चलता है। प्रभु की ओर से प्रेम भक्त के पास आता है और भक्त के पास से प्रेम प्रभु की ओर जाता है।

समय-समय पर कभी-न-कभी आपने भी अनुभव किया होगा कि थोड़ी देर के लिये अगर अन्य चिंतन छूट गया और सर्व-समर्थ परम हितैषी मुझ में ही विद्यमान परमात्मा मेरे अपने हैं - यह भाव प्रधान होकर आपके सामने आ गया तो उतनी ही देर में शरीर का भास खत्म हो जाता है। जरा-सी देर में और आप सोच करके देखिये, कि जब उनकी ओर से आने वाले प्रेम की लहरियां हमारे आपके हृदय को स्पर्श करती हैं, व्यक्तित्व को छू देती हैं तो कभी ऐसा नहीं हो सकता कि फिर किसी प्रकार का विकार अथवा दूषण जीवन में रह जाये। ऐसा नहीं हो सकता।

एक बार एक अनुभवी संत के पास बैठ कर मैं बात कर रही थी। भगवत् चर्चा हो रही थी-प्रेम की बातें हो रही थीं, तो बात करते-करते उन संत को ईश्वरीय प्रेम की याद आ गई और उनके भीतर क्या हुआ, सो तो वे जाने। कुछ देर के बाद परम प्रसन्न होकर उनके मुख से मधुर वचन निकलने लगे कि भाई, हमें तो थोड़ी-सी देर के लिये, दो मिनिट का विराम भी मिल जाये; अगर दो घंटे, चार घंटे काम करते बीत गये हों और दो मिनिट का विराम भी मिल जाये तो भीतर में प्रवेश करते ही घंटों-घंटों के परिश्रम की थकावट जो है, वह खत्म हो जाती है। एक बार प्यारे की याद आ जाये और भीतर-भीतर प्रेम की लहर दौड़ जाये तो बहुत से रोग नष्ट हो जाते हैं।

प्रेम अलौकिक तत्त्व है और जिन साधकों के जीवन में उस तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, वे अशरीरी हो जाते हैं, फिर शरीर से सम्बन्ध उनका नाममात्र को रह जाता है। केवल संसार के व्यवहार को चलाने के लिये, बातचीत करने के लिये या किसी की कुछ सेवा करनी है

उतनी ही देर के लिये शरीर से उनका सम्बन्ध बनता है। अन्यथा शरीर की स्मृति होती ही नहीं है। जिन साधकों ने ऐसा अनुभव किया है उन लोगों ने स्वयं हमें बताया है और वे जितना अनुभव करते हैं उतना बता नहीं सकते और जितना बताते हैं उतना हम लोग ग्रहण कर नहीं सकते, क्योंकि वे अनुभवी संतजन कहते हैं अनुभव की बात और हम लोग उसको बुद्धि के स्तर पर समझना चाहते हैं। उस अलौकिक तत्त्व की बात बुद्धि में समा ही नहीं सकती। फिर भी जितनी-जितनी थोड़ी बहुत पकड़ में आती है उससे ऐसा ही लगता है कि मनुष्य के जीवन का मूल आधार है वह तत्त्व।

श्री महाराजजी ने ऐसे बताया कि चूंकि उस तत्त्व से हमारा निर्माण हुआ है, हमारी सत्ता में ही वह विद्यमान है, इसलिये उसकी अपने को पसन्दगी भी बहुत है और उसकी अभिव्यक्ति जब किसी के जीवन में होती है तो वह सब प्रकार से स्वाधीन हो जाता है फिर कोई कामना उपज ही नहीं सकती। कामना तो हमेशा अभाव में उपजती है। कामना हमेशा अपने और दूसरों के बीच भेद-बुद्धि के रहने से उपजती है। द्वैत में कामना उपजती है, अद्वैत में नहीं ! और प्रेम तत्त्व का हिसाब ऐसा है कि एक और एक मिल कर दो नहीं होते। एक और एक मिलकर एक ही रहता है, और कहीं-कहीं तो श्री महाराजजी ने ऐसे भी लिखा है कि शुद्ध अद्वैत तो प्रेम तत्त्व में ही सिद्ध होता है। क्योंकि प्रेमी और प्रेमास्पद दो नहीं रहते हैं।

कभी-कभी मेरे ध्यान में यह बात आती है कि जीवन की पूर्णता की बात तो पूर्ण पुरुष जानें। लेकिन साधन काल में प्रेम पंथ के साधक थोड़ी-थोड़ी देर के लिये जहाँ-जहाँ प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति का अनुभव पाते हैं-उतने ही में उनका संसार डूब जाता है। तो पूर्णता में अवश्य ऐसा होता होगा कि अपने को प्रेमी कहने वाला खत्म हो जाता है, और प्रेमास्पद और प्रेम-यही रह जाता है। अर्थात् साधक का संपूर्ण जीवन, प्रेम तत्त्व के रूप में रूपान्तरित होकर प्रेमास्पद से अभिन्न हो जाता है। ऐसा होता है, और अभी भी ऐसे भक्त धरती पर हैं।

उनकी कृपालुता है, इस प्रकार के संतों को, भक्तों को वे हमेशा धरती पर भेजते रहते हैं, इस उद्देश्य को ले करके, कि हम भटके हुए लोगों को वे सन्मार्ग दिखाते रहें और प्यारे प्रभु की याद दिलाते रहें। उनकी ओर से विस्मृति हुई नहीं, उनको तो पूरी तरह से अपने बच्चों की याद है। विस्मृति हमसे हो गई है। इसलिये हम पर दायित्व आ गया कि हम विवेक के प्रकाश में देख करके जाने हुए असत् के संग का त्याग करें और गुरु की वाणी सुन करके, ग्रन्थों के वाक्यों को पढ़ करके, अनन्त परमात्मा को अपना कहकर स्वीकार करें। हमारी स्वीकृति में कहीं अधूरापन रह गया होगा, इसलिये परम प्रेम जीवन नहीं बन पाया। कहीं-न-कहीं, कोई अपना संकल्प रह गया होगा। कहीं-न-कहीं, किसी से हमारा सम्बन्ध रह गया होगा।

प्रेम तत्त्व के विकास के लिये वर्तमान में अपने को क्या पुरुषार्थ करना है ? सोचिये ! केवल इतना ही पुरुषार्थ करना है कि परमात्मा के अतिरिक्त और किसी से सम्बन्ध मालूम होता हो अपने को, तो उसको छोड़ देना चाहिये; और कोई अपना संकल्प रह गया हो तो उसको भगवत् समर्पित कर देना चाहिये। बड़ा आराम मिलता है। ईश्वर विश्वास में यह बात बहुत अच्छी है।

ऐसे तो विचार पंथ को कम नहीं माना गया है। मानव सेवा संघ में दोनों का महत्त्व है। लेकिन विश्वास पंथ में एक बहुत बढ़िया बात मुझे यह मिली कि अगर साधक के भीतर प्रभु विश्वास की दीक्षा लेते समय कुछ संकल्प ऐसे रह गये हैं कि जिनका त्याग वह कर न सके और जिनकी पूर्ति उसके साधन में बाधा पहुँचा सकती हो, तो ऐसे संकल्पों का तो वे स्वयं नाश करा देते हैं और कुछ संकल्प, जो अपनी जानकारी में हैं, और आप चाहते हैं कि वे संकल्प मिट जाते तो अच्छा था, हमें शान्ति मिल जाती, चित्त एकाग्र हो जाता, एकनिष्ठ हो करके केवल परमात्मा की आराधना में ही हम लग जाते-ऐसा जहाँ आप सोच रहे हैं और चाह रहे हैं कि इन संकल्पों को भी खत्म कर देते तो अच्छा होता। लेकिन उनमें से कुछ संकल्प ऐसे हैं कि जिनकी पूर्ति कराके परमात्मा उनके प्रभाव से आपको हटाना ठीक समझते हैं तो वह भी

कर देते हैं और कुछ-कुछ उदाहरण मुझे ऐसे भी मिले कि दीक्षा लेते समय साधकों के कुछ संकल्प ऐसे होते हैं कि जिनका उनको पता ही नहीं लगता। ऐसे भी संकल्प होते हैं। बड़ी गहराई में, अर्धचेतन स्तर में न जाने कहाँ, किस प्रकार से छिपे रहते हैं और साधक को पता ही नहीं चलता कि मेरे भीतर इतने संकल्प हैं। ऐसे संकल्पों को प्रभु अपनी कृपालुता से प्रकट भी करा देते हैं, मिटा भी देते हैं, पूरा कराके भी खत्म करा देते हैं और सब प्रकार से साधक को निःसंकल्प बनाकर अपनी भक्ति निष्ठा में लगा देते हैं।

मेरे साथ भी उन्होंने ऐसा किया है। अपनी कृपालुता से प्रेरित होकर साधन काल में मुझ जैसे उलझे हुए साधक को भी उन्होंने ऐसे-ऐसे अद्‌भुत अनुभव दिये हैं कि जिन्हें याद करके अब मैं आह्लादित होकर गाती हूँ -

मैंने तेरी छाँह गही, तूने मेरी बाँह गही।

(47)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से हम सब भाई-बहनों को मानव जीवन मिला है, उन्हीं की यह विशेष कृपा है कि हम सभी भाई-बहन इस जीवन में सत्संग का महत्त्व मानते हैं और सत्संग की दृष्टि से यहाँ उपस्थित हुए हैं।

सत्संग का बड़ा भारी महत्त्व है। यह मानव जीवन का सबसे ऊँचा पुरुषार्थ है। इसलिये कि इस जीवन की समस्यायें सत्संग के द्वारा ही हल होती हैं, और किसी उपाय से नहीं। सत्संग का अर्थ क्या है ? अब ऐसे सोचकर देखिये, कि समग्र उत्पत्ति जो हुई है, निर्माण का जो क्रम सृष्टि में अनवरत चल रहा है, उस समस्त उत्पत्ति के पीछे मूल रूप में कोई अनुत्पन्न तत्त्व अवश्य है जिसका आदि-अन्त नहीं है, जिसमें से सृष्टि का आरंभ होता है, उसके निर्माण और विनाश का क्रम

चलता है, उस अनुत्पन्न अनादि और अनन्त तत्त्व को सत्य कहते हैं। ऐसा सोचने से बहुत स्पष्ट मालूम होता है कि हम सभी भाई-बहनों ने जो जीवन धारण किया है, और जो जीवन हमारा चल रहा है, वह उसी नित्य तत्त्व पर ही आधारित है। इस दृष्टि से हम सभी के जीवन में वह नित्य तत्त्व, वह सत्य सदैव विद्यमान है।

अनुभवी संत ने हमें यह बताया कि वह सत्य तो नित्य विद्यमान है, उसी पर हमारा जीवन आधारित है। फिर भी, उस नित्य तत्त्व के नित्य विद्यमान होने पर भी, हम लोगों को उस सत्य की उपस्थिति का आनन्द नहीं आ रहा है। सत्य के सम्बन्ध में हम लोगों ने सुना कि वह अविनाशी है, सर्वव्यापी है, आनन्दस्वरूप है, प्रेमस्वरूप है। ऐसा जो सत्य है, अनादि, अनन्त, आनन्दस्वरूप, प्रेमस्वरूप, वह सत्य हम सभी भाई-बहनों में विद्यमान है, तो हम लोगों को आनन्द का अनुभव होना चाहिये था। प्रेमस्वरूप सत्य नित्य विद्यमान है तो उसके प्रेम के रस का मधुर आस्वादन हम लोगों को होना चाहिये था, लेकिन नहीं हो रहा है।

हो क्या रहा है ? नाशवान् शरीर के साथ जुट जाने का जो परिणाम स्वभाव से होना चाहिये था, उसका अनुभव हो रहा है अब थकावट आ गई, अब भूख लग गई, अब नींद आ रही है, अब बीमारी सता रही है, अब मृत्यु का भय सता रहा है-ये सब अनुभव कहाँ से आ रहे हैं ? ये अनुभव आ रहे हैं नाशवान् शरीर के साथ अपने को मिला लेने से। ठीक है ? यह अनुभव हो रहा है तो सत्य के संग में होने का जो आनन्द और प्रेम का जो रस मिलना चाहिये, वह नहीं मिल रहा है। अनित्य शरीर जो कि बन गया है निरन्तर बदल रहा है और मिट जायेगा। अनेकों शरीरों को मिटते हुए हमने देखा है। विवेक के प्रकाश में यह निश्चित है कि आज जिस शरीर को लेकर संसार में हम विचरण कर रहे हैं, यह भी किसी भी क्षण साथ छोड़ देगा। इस बात का अपने को पता है न ?

तो अब सत्संग का अर्थ क्या है ? सत्संग का अर्थ है, कि अपने माने हुए असत् के संग का हम त्याग करें, तो नित्य विद्यमान सत्य की

उपस्थिति का अनुभव अपने को हो जायेगा। यह अर्थ है सत्संग का। यह जाना हुआ असत् है कि नाशवान् शरीर को हमने अपना माना, तो अपना मानने से भी अपना होकर यह रह नहीं सकेगा। इस बात को जानते हुए भी, उसके संग में रहना हमें पसन्द आया जो यह असत् का संग हो गया।

शारीरिक बल किसी भी क्षण में साथ छोड़ देगा। इस बात को जानते हुए भी शरीर के बल का आश्रय, धन के बल का आश्रय, बौद्धिक योग्यता-क्षमता का आश्रय, समाज और सरकार के दिये हुए पद का आश्रय लेकर हम लोग रहते हैं, और उस आश्रय पर अपने को सुखी करने का प्रयास करते हैं। तो यह हमारा जाना हुआ असत् है। इस जाने हुए असत् के संग के त्याग का नाम सत्संग है।

सत् का संग तो नित्य निरन्तर है ही। उससे तो कभी कोई विच्छिन्न हो ही नहीं सकता। उसके बिना पलमात्र के लिये भी हमारा आपका अस्तित्व रह नहीं सकता। तो जो सदा-सदा से है, उसका करना क्या है ? और जो हमारे करने से होगा, वह रहेगा क्या ? जी ? नहीं रहेगा। तो सत्य का संग करना है - यह कहते बनता नहीं है। क्या कहते बनता है ? कि भाई, जाने हुए असत् के संग का त्याग करो। तो जो जाना हुआ असत् है उसके संग का त्याग करने से जो सत्य अपने में इसी वर्तमान में विद्यमान है-उसकी विद्यमानता का आनन्द अपने को आ जाता है।

अब आज हम सभी भाई-बहन इस उद्देश्य को लेकर यहाँ बैठे हैं कि मानव जीवन की समस्याओं का समाधान होना चाहिये ! कैसे हो सकता है ? सत्संग के आधार पर हो सकता है। यही एक पुरुषार्थ है जो इस जीवन की गरिमा को, महिमा को अभिव्यक्त होने में सहायता कर सकता है।

अब भौतिक समस्याओं को सामने रख कर देखें। ऐसे पूछें हम, कि जीवन की समस्यायें क्या हैं ? तो बहुत लंबी लिस्ट (list) बन जायेगी। और बहुत-सी ऐसी समस्यायें हमारे सामने आ जायेंगी जो कि बार-बार हल करने पर भी, उठती ही रहती हैं। लेकिन, इस मानव

जीवन की कुछ मौलिक समस्यायें ऐसी हैं, कि जिनका एकबार समाधान हो जाये तो फिर कोई नई समस्या उठती नहीं है। तो ऐसी समस्याओं पर विचार करना,- इस सत्संग का एक उद्देश्य है।

अब ऐसे सोचिए कि हम सभी भाई-बहिनों ने इस शरीर को लेकर जितना समय बिताया, उसमें बहुत बार कई प्रकार के सुख और कई प्रकार के दुःख अनुभव किये। सुख तो हम लोग अपनी पसन्दगी से लेते हैं। लेकिन ऐसा कोई सुख इस संसार में अब तक नहीं मिला, जिसमें कि किसी प्रकार का दुःख सम्मिलित न हो। यह हमारा आपका अपना अनुभव है। जैसे बहुत अच्छा, स्वादिष्ट, रुचिकर भोजन प्रेमपूर्वक सामने लाया जाये तो उसके ग्रहण करने का सुख। तो इस अवसर पर प्रकृति का विधान देखो कि ऐसे मिले हुए भोजन को भी अच्छी तरह से पूरा स्वाद लेकर खाने का सुख कब मिलता है ? जब ठीक उसके पहले अच्छी भूख लगने की पीड़ा आपको अनुभव हो जाये। प्रकृति का ऐसा विधान है कि जीवन को धारण करने में प्राण शक्ति जो खर्च होती रहती है उसकी कुछ-कुछ क्षतिपूर्ति करने का इंतजाम प्रकृति करती है। कुछ-कुछ घन्टों पर भूख लगती है। भूख जब लगती है तो उससे पेट में, अन्न की थैली में, संकुचन की क्रिया होने लगती है और भीतर के स्नायुओं में एक तनाव होता है। उसको व्यक्ति भूख की पीड़ा के रूप में अनुभव करता है। जब तक आप अच्छी भूख लगने की पीड़ा को अनुभव नहीं करियेगा, तब तक आपको सुस्वाद भोजन को खाने का सुख अनुभव नहीं होगा।

मानवेतर योनियों में प्रकृति के विधान के अनुसार सुख-दुःख भोगने की बाध्यता है। परन्तु मानव योनि में हमारे सामने सुख-दुःख भोगने की बाध्यता नहीं है। क्या होता है ? कि जब सुख मिलता है तो जो जाग्रत व्यक्ति होते हैं, सचेत व्यक्ति होते हैं-वे उस सुख की सीमाओं को देख करके उससे असंतुष्ट हो जाते हैं, कि बस ! इतना ही है। इसके आगे और तो कुछ नहीं है और उसके साथ जब दुःख भी मिलता है, तो उनके भीतर से जीवन की एक माँग जाग्रत होती है।

हम भाई-बहन इस तथ्य को जानते हैं कि यहाँ का कोई ऐसा संयोग आज तक बना नहीं जो वियोग में बदल न जाये। लेकिन मानव जीवन की माँग ऐसी है, कि अपने को तो ऐसा प्रिय संयोग चाहिये कि जिसमें वियोग न हो। ऐसी आवश्यकता अपने को मालूम होती है कि नहीं ? जी ? होती है। और ऐसे ही जन्म-मरण की सीमा में बँधा हुआ व्यक्ति, शरीरों के माध्यम से संसार के संयोग-जनित सुखों की आकांक्षा रखने वाला व्यक्ति, मृत्यु पसन्द नहीं करता, लेकिन उसे विवश होकर मरना पड़ता है। तो हमारी एक बड़ी समस्या है कि क्या मेरे लिये, मृत्यु रहित जीवन है ? वियोग रहित संयोग है ? दु:ख-रहित सुख है ? यह पहला प्रश्न है। और है, तो कैसे मिलता है ? यह दूसरा प्रश्न है।

ऐसा जीवन है कि नहीं, इसका उत्तर दार्शनिक आधार पर मिलता है-आस्तिकता के आधार पर मिलता है। और अगर वह जीवन है तो हम लोगों को कैसे मिलेगा ? इस प्रश्न का उत्तर है कि साधना के आधार पर मिलता है। इन चार दिनों की बैठकों में इन दोनों पहलुओं पर संत से प्रसाद के रूप में जो मुझे मिला है वह मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में यथाशक्ति पत्र-पुष्प के रूप में अर्पित करूँगी।

पहला प्रश्न है-दु:खरहित जीवन, दु:खरहित सुख है कि नहीं ? वियोगरहित संयोग है कि नहीं ? मृत्युरहित जीवन है कि नहीं ? अनुभवी संतजन बताते हैं कि वह जीवन है और जब मैंने सन्त की शरण में बैठकर जीवन की व्याख्या को सुना, उन संत चरणों की धूलि पाकर यह तुच्छ जीवन मिट्टी से सोना बना तो मैंने यह पाया कि जिस तरह के जीवन की माँग हमारे भीतर है, उसी का नाम जीवन है। अनुभवी सन्त ने कहा कि "असंतोष, दु:ख, वियोग की व्यथा, जन्म-मरण की बाध्यता-ये जो तुम विवश होकर सहन कर रहे हो, इसको जीवन कहते नहीं हैं। यह तो तुम्हारी भूल का परिणाम है। जीवन उसी को कहते हैं कि जिसकी कल्पना तुम्हारे भीतर है। जीवन उसी को कहते हैं, जिसकी माँग तुम्हारे भीतर है।" वर्तमान अवसर हम लोगों को सत्य की चर्चा और जीवन की चर्चा करने को मिला है तो सत्संग के प्रकाश में मौलिक समस्याओं का समाधान कर लें।

महाराजजी ने बताया कि मानव जीवन का यह अवसर तुमको केवल इसीलिये मिला है, कि तुम अपनी इस माँग की पूर्ति कर सको, अन्यथा सुख-दुःख भोगने के लिये तो कुत्ते-बिल्ली ही बहुत थे मनुष्य बनने की आवश्यकता ही नहीं थी। लेकिन यह जो जीवन है, इसकी रचना केवल इसी उद्देश्य के लिये हुई है कि मरणशील शरीर को लेकर संसार में विचरण करते हुए आप मृत्यु रहित अमर जीवन का आनन्द अनुभव कर सकें। इसी के लिये यह मिला है। खाने-पीने-सोने के लिये नहीं।

और प्रकृति के विधान में बँधे हुए, विवश होकर रोते-रोते पैदा होना और विवश होकर हाय-हाय करके मर जाना-यह मनुष्य के जीवन की शोभा नहीं है। यह तो मनुष्यता को भुला देना है। पशुता को प्रश्रय देना है। मनुष्य की शोभा किस बात में है ? कि मृत्यु का ग्रास बनने के पहले वह अपने अमरत्व के आनन्द में मस्त हो जाये।

महाविद्यालय और विश्वविद्यालय में मनुष्य के व्यक्तित्व की व्याख्या सुन-सुन कर, पढ़-पढ़ कर, लिख-लिख कर, मैं हैरान हो गई थी। कहीं भी मानव जीवन में से दुःख-निवृत्ति के प्रश्न का उत्तर मुझे नहीं मिला। दिन-रात एक करके, मैंने पढ़ने की कोशिश की, इसी आशा में कि ऊँची शिक्षा से मानव जीवन की समस्याओं का समाधान मिल जायेगा, पर नहीं मिला। सन्त के पास बैठकर मुझे इस प्रश्न का उत्तर मिला कि तुम तो पैदा ही हुए हो इसलिये, कि उस जीवन को प्राप्त करो, उस जीवन से अभिन्न हो जाओ, जिसमें मृत्यु का दुःख नहीं है, जिसमें वियोग की वेदना नहीं है, जिसमें दुःख का लेश नहीं है, उसी के लिये पैदा हुए हो।

मानव जीवन की महिमा जब मेरे सामने आने लगी तो सृष्टि कर्त्ता के प्रति मेरी जितनी आलोचनायें थीं, जितना आक्रोश था, सब खत्म हुआ। मैंने कहा, यह तो बढ़िया बात है। मनुष्य का जीवन कितना सुन्दर सन्धि-स्थल है! उस अविनाशी परमात्मा की अलौकिक विभूतियों का प्राकट्य इस नाशवान् शरीर को लेकर दुनिया में विचरण करने वाले मनुष्य के व्यक्तित्व के माध्यम से होता है। यह कितनी ऊँची बात

है! नहीं तो वह अलख, अगोचर, परम रहस्यमय, रहस्यमय ही रह जाता।

इन सारी स्वीकृतियों, सारी प्रतीतियों और सारे दृश्य के पीछे जो जीवन का सत्य है, जो मौलिक तत्त्व है, जो अनादि-अनन्त तत्त्व है, उसी तत्त्व से अभिन्न होने का प्रोग्राम जो है, वही हमारे जीवन की रचना का आधार है। जिस किसी ने सृष्टि बनाई, इतना तो निश्चित है कि मैंने नहीं बनाई, और जिस किसी ने मुझको बनाया, निश्चयपूर्वक हम लोग जानते हैं कि मैंने अपने को नहीं बनाया, तो मेरा उस परमात्मा से बड़ा विरोध रहता था। जब-जब मुझे अपनी कामना पूर्ति के सुख में बाधायें मिलती तो मैं नाराज होती रहती-तुम क्यों सृष्टि बनाते हो ? और बिना बनाये नहीं रहा जाता है तो भले सारी सृष्टि बना देते, मुझको तो न बनाते। ऐसा मैं कहती परमात्मा को कि तुमने ऐसा क्यों किया ?

टॉमस हार्डी के उपन्यास में मैंने पढ़ा कि ईश्वर कृपालु पिता नहीं है, वह तो बड़ा कठोर न्यायाधीश है ! और वह तो हमें बनाकर, जा करके सो गया और फिर जगेगा नहीं कभी, खबर नहीं लेगा। तो मैं भी ऐसा ही कहा करती। अपनी बचपन की परम्परा की बात सुनी हुई थी, कि क्षीर सागर में शेषशय्या पर विश्राम लेते हैं। तो मैं बहुत सलाह देती भगवान को, कि चुपचाप से जाकर सो जाओ न, आराम करो। काहे को सृष्टि बना देते हो ? उथल-पुथल मची रहती है। सुख-दुःख की लहरियों में आदमी डूबता, उतराता रहता है। तुम्हें तो कुछ पता ही नहीं है। तुमको तो कुछ चिन्ता ही नहीं है - ऐसा मैं बोलती।

लेकिन जब से मानव जीवन की यह महिमा मुझे बताई गई तो मैंने पाया कि यह मानव जीवन तो ऐसा उत्तम है, इतना बढ़िया है, कि मनुष्य को सारी सृष्टि का श्रृंगार कहते हैं। क्या है इसमें ? कि यह तो एक ऐसा बढ़िया सन्धि-स्थल है, कि इसी व्यक्तित्व में ज्ञान और प्रेम का अलौकिक तत्त्व अभिव्यक्त होता है। अलख, अगोचर, अनादि, अनन्त, माधुर्य और अनन्त सौन्दर्य से सम्पन्न परमात्मा आप ही के माध्यम से अपनी विभूतियों को प्रकट करता है।

एक मरणशील शरीर को लेकर, एक आकृति को लेकर हम संसार में आये और संसार में विचरण कर रहे हैं और इसी आकृति के रहते हुए अनादि, अनन्त तत्त्वों की अभिव्यक्ति आपके द्वारा इस संसार में हो सकती है।

जो संत महानुभाव संसार की इच्छाओं, कामनाओं का त्याग कर देते हैं, जो संत महानुभाव ज्ञान के प्रकाश में तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ लेते हैं, आस्था, श्रद्धा, विश्वास के आधार पर प्रेम-स्वरूप परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं, उनके माध्यम से ईश्वरत्व इस संसार में प्रकट होता है। कोई ज्ञानसम्पन्न महात्मा हो, उसके निकट बैठने मात्र से हृदय का ताप शांत हो जाता है। कोई भगवत् भक्त हमारे बीच में आ जाये, उसके भीतर जो ईश्वरीय प्रेम का रस लहरा रहा है, उसकी मधुरता वायुमंडल को मधुर बनाती रहती है। उस वायुमंडल में जाकर उपस्थित होने से पीड़ित और तापित लोगों के हृदय में शीतलता आ जाती है। क्या ऐसा आपने अनुभव किया है ?

ऐसा अद्‌भुत अनुभव मुझे तो इतना अच्छा लगा, कि अब मैं उसी परमात्मा से कहती हूँ कि आप बहुत अच्छे हैं। आपने बड़ा अच्छा किया जो सृष्टि बनाई। उससे भी अच्छा किया जो मुझे बनाया और उससे भी बढ़िया काम आपने किया कि मुझे असत् के संग में चैन से रहने नहीं दिया। इसका परिणाम क्या होता है ? कि दुःखमिश्रित सुख से ऊपर उठकर व्यक्ति को परमानन्द मिलता है, संयोग-वियोग के मिश्रण से ऊपर उठ कर नित्य-योग का अविनाशी जीवन मिलता है, जन्म-मरण की बाध्यता समाप्त हो करके अलौकिक जीवन का आनन्द मिलता है, अमरत्व का आनन्द मिलता है।

ये बातें जो मैं आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ, आप ऐसा मत सोचियेगा कि ये केवल ग्रन्थ में लिखने की बातें हैं, या फिर सत्संग में बैठकर वक्ता बोले और श्रोता सुने - इस सीमा के भीतर हैं। ऐसा नहीं है। संत के पास पहुँच करके मैंने ऐसे अद्‌भुत प्रश्न उनके सामने रखे जो मेरे जीवन में थे। बनावटी बातें नहीं थीं। सच्ची बातें थी।

संत कबीर की वाणी मैं बार-बार महाराजजी को सुनाऊँ। वे कहते हैं-"तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आखिन देखी।" तो मैं महाराजजी को कहूँ कि महाराज मुझे आँखों से दिखाइये, मेरे जीवन में उस सत्य का अनुभव कराइये तब मैं मानूँगी। अन्यथा जब आप बोलते हैं और मैं सुनती हूँ, तो मैं यही सोचती हूँ कि पता नहीं ये कहाँ की बातें हैं। मेरे भीतर तो असंतोष भरा है। मेरे भीतर तो कामनाओं की अतृप्ति का ताप भरा है। मैं क्या जानूँ कि परम प्रेमास्पद के अगाध, अनन्त रस की मधुरता कैसी होती है ? हमको क्या पता ? तो आप मुझे इसका अनुभव करा दीजिये तब मैं जानूँगी कि हाँ, यह बात ठीक है। तब मुझे जीवन के प्रति आस्था बनेगी। तो अनन्त कृपालु भगवान की कृपा से, मेरी साधना के बल पर नहीं, लेकिन मेरे जीवन की वेदना से दुःखी हो करके, संत ने, भगवन्त ने कृपा करके, दुःख रहित आनंद-संयोग-वियोग से रहित नित्य-योग, जन्म-मरण से रहित अलौकिक अविनाशी जीवन का प्रत्यक्षीकरण कराया। अब जब हमारे पुराने आचार्य लोग मिलते हैं, जिनको वर्ग-भवन में प्रश्न करके हैरान करती थी मैं, वे लोग कभी-कभी पूछते हैं कि बोलो, तुम्हारे प्रश्नों का उत्तर मिला। मैं कहती हूँ - हाँ मिला। क्या मिला ?

तो मुझे यह कहने में बहुत आनन्द आता है कि आँखों से जो कुछ देखा जा रहा है और ऊँचे से ऊँचे बौद्धिक स्तर पर जो कुछ सोचने और समझने में आता है, उन सबके परे एक अचिन्त्य, अलौकिक, अदृश्य जीवन है। मैंने उसका दर्शन किया है। मुझे इत्मिनान हो गया। मैंने समझ लिया कि भाई, मानव का जो जीवन मिला है वह तो उलझन में पड़े रह कर भोग रहे हैं असत् के संग के प्रभाव में; और सोच रहे हैं, अनन्त, अविनाशी परमात्मा के सम्बन्ध में। जिसको छोड़ना है उसको छोड़ नहीं रहे हैं। जिसको पाना है उसको पकड़ नहीं रहे हैं और असमंजस में दिन कटे जा रहे हैं। ऐसा तो होना नहीं चाहिये। यह अवसर निकल जायेगा, तब फिर क्या होगा ? इसलिये सत्संग का कार्यक्रम ऐसा नहीं होता है कि कहने वाले ने कह दिया, सुनने वाले ने सुन लिया और खत्म हो गया। सो नहीं होता है।

सत्संग का अर्थ ही यह निवेदन किया मैंने आपकी सेवा में कि आप ही के व्यक्तित्व में नित्य विद्यमान उस सत्य की विद्यमानता का आनन्द और रस आपको आ जाना चाहिये। सीमित व्यक्तित्व में वह असीम अभिव्यक्त होगा, यह असंभव बात नहीं है। अगर ऐसा न होता, तो मानव समाज में सत्य की चर्चा न होती।

एक बार मैं अपनी ही उलझन में उलझी हुई अनेक प्रकार से अपनी असमर्थता को प्रकट कर रही थी महाराजजी के सामने। मैं यह कह रही थी कि, मेरे भीतर जीवन की माँग है। संत ने मुझे पूरी तरह से आश्वस्त कर दिया कि जिस जीवन की माँग है तुममें, वह है। और अब मैं ऐसा कहती हूँ - 'है' का अगर कुछ अर्थ होता है तो वह 'जीवन' ही होता है - बाकी कुछ है नहीं। अगर केवल एक 'है' अक्षर लिख लो और इस जीवन में उसका कोई अर्थ है तो वह अलौकिक, अविनाशी, आनन्दस्वरूप, प्रेमस्वरूप जीवन ही है, बाकी और कुछ नहीं है।

मेरे कहने का यह अर्थ नहीं है कि आप इसको भूल-भुलैया मान कर छोड़ दें। सो बात नहीं है। सोच करके देखिये बीती हुई घटनाओं को, भूतकाल पर दृष्टिपात कीजिये, कि किसी दिन जिन बातों को मैंने 'है' कहा था, आज वे सब खत्म हो गई हैं कि नहीं ? किसी को हमने माता-पिता कहा था और हर प्रकार से उनकी कृपा पर आश्रित थे। आज वे माता-पिता नहीं दिख रहे हैं, तो हमेशा 'है' कहना मिथ्या हो गया कि नहीं ? जी ? हो गया न। कभी मैंने 'है' कहा था। आज वह 'नहीं' में परिवर्तित हो गया। तो महाराजजी की वाणी मुझे इतनी अच्छी लगी। उन्होंने कहा कि देवकीजी, तुम किस फेर में पड़ी हो ? जिस जीवन की माँग है, वह ही है और 'है' के अर्थ में वही आ सकता है। उससे भिन्न जितनी बातों को हम लोग 'है' कहते हैं, वह सब 'नहीं' में बदल रहा है, बदल जायेगा, मिट जायेगा। कुछ भी रहने वाला नहीं है।

तो पहली बात यह है कि मैं आप भाई-बहिनों को यह विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि आपके भीतर जिस दुःखरहित आनन्द, वियोगरहित संयोग, मृत्युरहित जीवन की आवश्यकता महसूस होती है, वह

आवश्यकता ही उस सत्य की उपस्थिति का प्रमाण है। आप ऐसा मत सोचिये कि आज मुझे अच्छे मकान की आवश्यकता है तो कल वह मकान मिल सकता है, और आज मुझे परमात्मा के प्रेम की आवश्यकता है तो पता नहीं वह कब मिलेगा, कैसे मिलेगा और क्या जाने किसी को मिला भी है कि नहीं ? ऐसा चिंतन व्यक्तियों का होता है।

स्वामीजी महाराज के एक भक्त हैं। बड़े भारी चिकित्सक हैं। हृदय रोग के विशेषज्ञ। दूसरे देशों में परीक्षा लेने जाते हैं। अच्छे सत्संगी भी हैं। महाराजजी की बहुत संगति की उन्होंने। बहुत आदर किया, सेवा की और ढाई बजे रात को वह अपने कार्य से मुक्त होते थे तो ढाई बजे रात को स्वामीजी महाराज उनको समय देते थे कि तुम आओ, बैठो और जीवन पर विचार करो। ऐसे सत्संगी भाई की बात मैं कहती हूँ। एक दिन कहने लगे कि "दीदी, हम परमात्मा को मानते हैं, तो कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि हम मानते रहें, मानते रहें और अंत में परमात्मा न निकले।" भाई, चिंतन है मनुष्य का। ईमानदार आदमी हैं, उन्होंने सच्ची बात सामने रख दी। मुझको बड़ा धक्का लगा। बहुत दुःख हुआ मुझे। मैंने कहा, भैया ! ऐसा कैसे सोच सकते हो ?

अगर परमात्मा के सम्बन्ध में ऐसा सन्देह रख कर हम चलेंगे तो दुनिया में और कौन सी बात है कि जिसमें निस्सन्देह रहेंगे। और कुछ है ? और तो कुछ नहीं है। इसलिये मैं आप भाई-बहिनों से निवेदन कर रही हूँ कि आप सोचते होंगे कि शरीर में रोग हो गया है तो चलो, चिकित्सक को दिखा लें, दवा ले लें, रोग ठीक हो जायेगा। रोग हो गया है तो रोग के ठीक होने में अपनी आशा है और शरीर के नाश होने के पहले-पहले अविनाशी जीवन का आनन्द मिल जायेगा, इसमें अपने को सन्देह है। तो जो संभव है, जो सत्य है-जो होने वाला है उसी में सन्देह रखो और जो मुट्ठी में से निकलता जा रहा है, खिसकता जा रहा है, हमारे पकड़ते-पकड़ते भी हमको छोड़कर चला जा रहा है, उसको दौड़-दौड़ करके पकड़ने की चेष्टा करो।

एक कथा पढ़ाई जाती थी दिग्विजयी सम्राट सिकन्दर की। जब उसका शरीर शान्त होने को आया तो उसने अपने मंत्री-मण्डल को बुलाया, परिवार के प्रिय कुटुम्बीजनों को बुलाया और उनसे कहा, कि जब मेरी लाश को तुम लोग अंत्येष्टि के लिये ले जाओ तो ये दोनों हाथ ऐसे खुले हुए, कफन से बाहर निकाल देना, इनको मत ढकना। सिकन्दर ने ऐसा कहा तो मंत्री लोग परेशान होने लगे। कहने लगे कि जहाँपनाह ! यह ऐसी आज्ञा आप क्यों दे रहे हैं ? इसका क्या अर्थ होता है ? तो उस महापुरुष ने अपने हृदय की भावना प्रकट की और कहा कि देखो, मैं मरने के बाद भी अपनी प्रजा की यह सेवा करना चाहता हूँ। इस घटना से अपनी प्रजा को यह बता देना चाहता हूँ कि तुम्हारा विश्वविजयी सम्राट सिकन्दर जैसे खाली हाथ दुनिया में आया था, वैसे ही खाली हाथ यहाँ से जा रहा है। यह शिक्षा मैं अपनी प्रजा को देना चाहता हूँ। इसलिये मेरे इस आदेश का पालन होना चाहिये।

बढ़िया बात है न ? तो आज हम सब भाई-बहनों के अन्तर में सोई हुई मानवता के गुणों को जाग्रत करने की एक सद्प्रेरणा, आपकी सेवा में निवेदन है। वह क्या है ? कि यहाँ जो कुछ हम सब कर रहे हैं, अवश्य करें। क्योंकि हाड़-मांस, अणु-परमाणु, रक्त-मांस-मज्जा से बना हुआ एक शरीर अपने पास है, तो इसके लिए ईंट पत्थर से बना हुआ महल भी होना ही चाहिये। लेकिन होना चाहिये वह केवल इसके लिये, और वह भी कब तक ? हमेशा के लिये तो यह संयोग रहेगा नहीं। बड़े शौक से महल बनाओ और बड़े गौरव के साथ उस पर अपने नाम का पत्थर लगाओ और फिर उसी महल के भीतर से एक दिन प्रियजन कहेंगे कि अब देर हो रही है, जल्दी उठाओ, जल्दी उठाओ।

तो मनुष्य का महत्त्व क्या है ? कि मनुष्य महल बनाता है और कहता है कि प्रकृति के बनाये हुए इस पुतले को रखने के लिये यह है-मेरे लिये नहीं है। मेरा परमाश्रय तो वह है कि जिसका आदि-अन्त नहीं है। मेरा परमाश्रय तो वह है जिसमें मृत्यु की छाया नहीं पड़ सकती। मेरा जीवन तो वह है जो ज्ञान के आनन्द और प्रेम के रस से सम्पन्न है। इस निश्चय [illegible]

बहुत कुशलतापूर्वक कर सकेंगे और संसार का त्याग भी बहुत आनन्दपूर्वक कर सकेंगे। आज संसार के संयोगजनित सुखभोग के लालच में हम अपने काम भी नहीं आये-कुटुम्बीजनों के काम भी नहीं आये। संसार के काम तो क्या आयेंगे ? और परमात्मा को तो उठा कर मन्दिरों में बंद कर दिया कि आप यहाँ आराम करिये। हमको तो अभी दुनिया का तमाशा देखने दीजिये। यह हाल हो गया है।

आप भाई-बहिनों का ध्यान इस बात पर दिलाना चाहती हूँ कि बड़ा अनमोल अवसर है, बड़ा अनमोल जीवन है। जो कभी नहीं हो सकता, जो हृदय के रस का स्रोत सुखा देता है, जो विवेक पर पर्दा डाल देता है, जो साधारण मानवता के व्यवहार से भी नीचे गिरा देता है, ऐसे कामनाओं के फेर में पड़े रहकर एक भी क्षण अपना बर्बाद न किया जाये। परिवार में अगर प्रेम और विश्वास घटता है तो क्यों ? अपनी कामनाओं की पूर्ति के आगे हम सब कुछ भूल जाते हैं।

समाज में इतना संघर्ष और इतना वैषम्य फैल गया तो क्यों ? महाराज कहते थे कि मनुष्य यदि एक परिवार के मोह में न फँसता तो क्या एक परिवार को श्रीसम्पन्न बनाने के लिये बृहद् समाज के साथ बेईमानी करता ? नहीं करता। अगर समाज के साथ मनुष्य वह कर रहा है कि जो नहीं करना चाहिये तो मानवता के प्रकाश में नहीं कर रहा है-मोह के बंधन में बँध के कर रहा है। अज्ञानता के अंधकार में कर रहा है। कामना पूर्ति के लालच में कर रहा है।

मानव जीवन का जो सुन्दरतम चित्र हो सकता है, उस चित्र को मैंने आज कितना विकृत बना रखा है। क्या यह स्थिति शोचनीय नहीं है ? जी ? हमें सोचना चाहिए और बहुत ऊँचे उठ सकते हैं हम लोग। यह जीवन बहुत सुन्दर बन सकता है। तो हम लोग आज से ही इस दिशा में प्रयत्नशील हो जायें। ऊँचे उठ सकते हैं तो आज से ही इस दिशा में कदम उठावें।

(48)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव का एक नाम साधक है और साधक का अर्थ है-हम सभी भाई-बहनों को इसी वर्तमान में, इसी जीवन में सफलता मिलनी चाहिये। सफलता मिलने का अर्थ क्या है ? कि हम जन्मे हैं अनेक प्रकार की इच्छाओं से आबद्ध होकर। शरीर की सहायता से व्यक्त जगत् का सुख लेंगे-इस इच्छा के रहने से शरीर धारण करके यहाँ आना पड़ा। सफलता का अर्थ क्या है-सब प्रकार की इच्छाओं से मुक्त होकर, जन्म-मरण की बाध्यता को तोड़ दें, सफलता का अर्थ है, कि रस का जो मूल स्रोत है, जीवन का जो मूल स्रोत है, जो प्रेम रस है- उससे विमुख होकर अनेक प्रकार की अतृप्ति और नीरसता में बँधे हुए हम पैदा हुए हैं और उसी नीरसता से पीड़ित होकर संसार में जहाँ-तहाँ घूमते भटकते फिरते हैं। कहाँ रस मिले ? कहाँ तृप्ति मिले ?- यह जो अपनी दशा है, इसी दशा को मिटा लेना इस जीवन की सफलता है।

यह दशा कैसे मिटती है ? कि जीवन का जो मूल स्रोत है-रस का जो आनंद सागर है - उससे हम विमुख हो गये हैं तो इस विमुखता का नाश कर लें और उस जीवन के अनन्त स्रोत, मधुर रस के अनन्त सागर से अपने हृदय के भाव को जोड़ लें। तो प्रेम भाव को परमात्मा से जोड़ लेने से जन्म-जन्म की नीरसता का नाश हो जाता है और नीरसता का नाश हो जाना ही मानव जीवन की सफलता है।

जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जाये और नीरसता का नाश हो जाये तो हम कहेंगे कि मानव जीवन सफल हो गया। जिसने सब प्रकार की इच्छाओं का नाश कर दिया, सब प्रकार की अतृप्ति का अंत कर दिया, वे स्वयं अपने आप में परम स्वाधीन हो जाते हैं। किसी प्रकार की पराधीनता उनके जीवन में शेष नहीं रहती है।

एक संत एक बार बातचीत कर रहे थे तो कह रहे थे कि देखो भाई ! किसी व्यक्ति को पकड़ करके बांध दो। तो जो बँधुआ है उसको

है, वह एक ही जगह पर बँध जाता है, fixed हो जाता है। किसी खंभे से पकड़ कर बाँध दो, किसी चीज से पकड़ कर आदमी को बाँध दो, तो बाहर का जो बंधन है वह आदमी को चलने-फिरने से रोक देता है। आदमी जहाँ बँधा है, वहीं खड़ा रह जायेगा। लेकिन विविध प्रकार की इच्छाओं से बँधा हुआ व्यक्ति जो है, वह तो बहुत दौड़ता है। तो कहने के लिये हम बद्ध हैं। किससे बद्ध हैं ? अपनी ही अतृप्त वासनाओं से बद्ध हो गये हैं। अपनी ही कामनाओं से बद्ध हो गये हैं। और बद्ध होने का परिणाम क्या है ? कि हम अत्यन्त गतिशील हो गये हैं। अभी यहाँ, कभी वहाँ। कब किससे मिलें ? कहाँ जायें ? क्या करें ? कैसे करें? और एक बात मन की पूरी हुई तो दस बातें उसकी जगह पर पैदा हो गईं। श्री महाराजजी कहते थे कि देखो भैया, विचार करो- तुम रहे जहाँ के तहाँ। मुझे ऐसा रहन-सहन चाहिये, मुझे ऐसे संगी-साथी चाहिये, मुझे ऐसी संतान चाहिये, मुझे ऐसा मकान चाहिये, मुझे ऐसा पद चाहिये, तदर्थ बहुत दौड़ रहे थे। बहुत दौड़ लगा कर, बड़ी शक्ति खर्च करके अगर कुछ पाया, तो पाने के बाद स्थिरता नहीं है। जितना पाया, उससे अधिक पाने की कामना पैदा हो गई। तो दौड़ की दौड़ बनी रह गई। तुम्हारा मूल्य कुछ बढ़ा नहीं। कभी-कभी हिसाब बताते तो कहते कि ७५/१०० लिखो, चाहे ३/४ लिखो, कोई फर्क नहीं पड़ता। ३/४ को ७५/१०० लिखो, तब भी मूल्य कुछ बढ़ता नहीं। हाँ संख्या जरूर बड़ी दिखाई देने लग जाती है।

यही हालत हुई हमारी। जन्मे थे तो अनेक प्रकार की इच्छाओं में आबद्ध थे। ऐसा मैं दावे के साथ इसलिये कहती हूँ कि प्रकृति के विधान को मैं मानती हूँ। आप भी विचार करेंगे तो मानना ही पड़ेगा कि अगर इच्छायें शेष न रही होतीं तो जन्म लेने की बाध्यता खत्म हो गई होती। शरीर धारण करना पड़ा है तो इसी से यह प्रमाणित होता है कि वासनायें शेष रह गई थीं। उनसे बद्ध होकर हम जन्मे और अब देखिये, कि जीवन का एक बहुत बड़ा भाग हम लोगों ने बिता दिया। कुछ इच्छाओं की पूर्ति में, कुछ उनका सुख भोगने में, कुछ इच्छाओं की अपूर्ति के क्षोभ और दुःख भोगने में बहुत बड़ा समय निकल गया।

इतना समय मैंने धरती पर रह कर निकाला, स्थान लिया, आकाश में अवकाश लिया, प्रकृति से सब शक्तियां लीं। यह सब ले करके हमने यहाँ समय बिताया। उसके परिणाम से अपने में कोई विशेषता आ गई क्या ? ऐसा सोच कर देखिये, तो मालूम होगा कि जिन मनुष्यों ने 'साधना के लिये मिला है यह जीवन'- ऐसा कह कर स्वीकार किया और इस स्वीकृति के फलस्वरूप इच्छाओं, वासनाओं का त्याग किया, उन्होंने तो जीवन का फल पा लिया और जिनकी दृष्टि इस बात पर नहीं गई, उनका क्या हाल है ? उनका हाल ऐसा है कि जब जन्मे थे, उस समय जितनी शक्ति, जितनी चेतना उनमें थी- इच्छा पूर्ति के फेर में पड़ करके उनकी शक्तियाँ और थोड़ी शिथिल हो गईं। शक्तिहीनता आ गई और इच्छाओं की वृद्धि हो गई।

साठ-पेंसठ वर्ष की उम्र जो इस धरती पर बिताई, उसके परिणामस्वरूप कुछ विकास हुआ कि ह्रास हुआ ? क्या कहेंगे ? ह्रास ही हुआ। अगर मनुष्य होकर भी अपने को साधक स्वीकार नहीं किया तो ह्रास हुआ। ज़न्म के समय जितनी इच्छायें थीं, वे और बढ़ गईं। जड़ता का पर्दा थोड़ा और मोटा हो गया। मनुष्यता से हम थोड़े और पीछे हट गये। उन्नति नहीं हुई-शांति नहीं मिली।

इच्छायें जितनी बढ़ती चली जाती हैं, मनुष्य के जीवन की शांति उतनी ही घटती जाती है। कुछ लोग कहते हैं, इच्छायें होती हैं तो बहुत प्रकार की उन्नति होती है। इच्छायें नहीं रहेंगी तो जगत् में उन्नति कैसे होगी ? जीवन क्या रहेगा ? ऐसा भ्रम लोगों का होता है। लेकिन इस भ्रम का निराकरण हमें करना ही पड़ेगा।

मन में कोई संकल्प उठा तो उस संकल्प की पूर्ति के लिये जिसको हम अपने बराबर का नहीं समझते हैं, उससे भी मीठी-मीठी बातें करनी पड़ती हैं। इससे अपना मूल्य बढ़ता है, कि घटता है ? घटता है। हमने अपना मूल्य घटाना क्यों पसन्द किया ? इसलिये किया कि भीतर में अपने एक बात बैठी है कि इच्छा पूरी हो जायेगी तो अपने को बड़ा सुख मिलेगा। सच पूछिये तो सुख के लालच से हम

इच्छाओं को अपने में रखना पसन्द करते हैं। पर वह सुख नहीं मिलता है, इच्छायें पूरी नहीं होती हैं। पूरी होने के बाद भी नई-नई इच्छाओं की उत्पत्ति से मस्तिष्क में एक प्रकार का तनाव बना ही रह जाता है। भीतर-भीतर अतृप्ति की पीड़ा रह ही जाती है। तब व्यक्ति सचेत होने के कारण, विवेकयुक्त होने के कारण इस दिशा में विचार करने लग जाता है कि अच्छा, इस प्रकार का सुख मैंने अनेक बार लिया, लेकिन सुख लेने की इच्छा खत्म नहीं हुई। इस प्रकार की सुखद परिस्थिति में मैंने बहुत समय बिताया, लेकिन उससे मुझको संतुष्टि नहीं हुई। जहाँ उसको भीतर विवेक के प्रकाश में अपनी दशा का दर्शन हुआ नहीं कि उसमें चेतना आ जाती है। व्यक्ति सजग हो जाता है। सावधान होकर अपने सम्बन्ध में विचार करने लग जाता है। उसे दिखाई देने लगता है कि क्या सत् है, क्या असत् है ? क्या त्याज्य है, क्या ग्राह्य है-इस बात का उसको पता चलने लग जाता है। मानव-जीवन के विकास का आरम्भ हो जाता है।

इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहनों को बहुत गंभीरता से विचार कर लेना चाहिये। हम अनेक जन्म बिता चुके तो क्या ? और इस जन्म के भी बहुत से वर्ष निकल गये तो क्या ? अगर इच्छाओं की पूर्ति के सुख को सामने रखेंगे तो सफलता नहीं मिलेंगी। फिर क्या करना चाहिये ? इच्छाओं की पूर्ति के सुख का प्रलोभन छोड़ देना चाहिये। अरे भाई ! दुनिया का काम निष्काम पुरुषों से हुआ, कि कामनाओं से प्रेरित लोगों से हुआ ? सोचिये। जिन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख की कामनाओं को तिलांजलि दे दी, वे दुःखी वर्ग के काम आये। जिन्होंने सब प्रकार के सुखों की वासनाओं का त्याग कर दिया, वे दुःखीजनों के काम आये। जीवन ऊँचा उठता है कामना पूर्ति के सुख से नहीं, कामना निवृत्ति की शांति से।

शांति के सभी अधिकारी हैं, परम प्रेम के सभी अधिकारी हैं, अनन्त आनन्द के सभी अधिकारी हैं। कोई ऐसा नहीं है जो उस वास्तविक जीवन के अधिकार से वंचित रख कर इस दुनिया में भेजा गया हो। आप जीवनदाता, जन्मदाता के विधान में श्रद्धा रख कर

जीवन के प्रति विचार करिये, तो बड़ा ही आनन्द आयेगा, बड़ा ही बल मिलेगा।

प्राप्त का सदुपयोग करना साधन है और अप्राप्त की इच्छा में फँसे रहना बंधन है। प्राप्त के सदुपयोग से बंधन से मुक्ति मिलती है और अप्राप्त की कामना में फँसे रहो तो बन्धन मिलता है। यह ऐसा जोरदार सत्य है मानव के जीवन का, कि इसकी अवहेलना करके किसी भी जप-तप से शान्ति मिल जाती हो, मुक्ति मिल जाती हो, भक्ति मिल जाती हो-ऐसी संभावना नहीं है।

अगर हम लोगों को मानव जीवन को सफल बनाना है, तो आज जिस परिस्थिति में हम लोग हैं उसी परिस्थिति में से ही जीवन-मुक्ति की साधना निकलेगी। अगर मैं विशेष प्रकार की परिस्थिति आपके सामने रख दूँ और कहूँ, कि ऐसी परिस्थिति पहले बनाओ तो जीवन मुक्ति की साधना बताऊँ, तो आप जैसा चाहेंगे वैसी परिस्थिति नहीं बना सकेंगे। अगर वैसी परिस्थिति नहीं बना पाये तो इसका मतलब है कि जीवन मुक्ति से आप वंचित रहेंगे। सत्य का विधान ऐसा नहीं है। उसमें किसी प्रकार की परिस्थिति अपेक्षित नहीं है। उसमें काल अपेक्षित नहीं है। उसमें योग्यता और सामर्थ्य अपेक्षित नहीं है। योग्यता से, सामर्थ्य से और परिस्थितियों से सत्य नहीं मिला करता।

ये योग्यतायें, परिस्थितियाँ, सामर्थ्य शरीरों के साथ जगत् में आती हैं-शरीरों के साथ जगत् में खत्म होती हैं। इनके आधार पर सत्य आधारित नहीं है। इसलिये हम सभी भाई-बहन यदि मुक्ति की साधना करना चाहते हैं, तो आज जिस दशा में हम लोग सत्य की चर्चा करने बैठे हैं, उसी दशा में से कदम उठाना पड़ेगा। बिना सिर घुटाये, बिना भेष बदले, बिना घर छोड़े, बिना दुकान बंद किये, बाल-बच्चों का लालन-पालन छोड़े बिना, रोटी बनाना छोड़े बिना, वृद्ध माता-पिता की सेवा छोड़े बिना, हम चाहे गृहवासी या समाजसेवी हों या गृह त्यागी, समान रूप से कदम उठा सकते हैं।

बस एक ही बात है कि आज शरीर और संसार के सम्बन्ध से

जो कुछ अपने को मिला हुआ-सा प्रतीत होता है उसका सदुपयोग करना, सेवा में लगाना तथा व्यक्तिगत रुचि-पूर्ति को जीवन में स्थान न देना - यह कदम है जो हर भाई-बहन आरम्भ कर सकते हैं। आज हम अप्राप्त की कामना और प्राप्त के दुरुपयोग में बँधे हैं। बहुत जोरदार सत्य है। मानव जीवन के भौतिक स्तर का सत्य है। जीवन-मुक्ति का आनन्द जिसको चाहिये, उसको इन दोनों ही भूलों को मिटा देना पड़ेगा।

एक बार मेरे पास बहुत-सा काम आ गया जो कि मैं ठीक प्रकार से कर नहीं सकती थी। समय पर खत्म करने के लिये ज्यों-त्यों करना था। स्वामीजी महाराज से मैंने पूछा कि क्या करना चाहिये साधक की दृष्टि से ? कहने लगे कि तुम्हारा काम तुम जानो, लेकिन सच्ची बात मैं बताता हूँ कि अगर काम करने में गलती रह गई, तो करने का राग नहीं मिटेगा। जीवन मुक्त पुरुषों की श्रेणी में से नाम कट जायेगा। इतनी सूक्ष्मता से जीवन के इस वैज्ञानिक सत्य पर हम दृष्टि डालते नहीं हैं और आँख बन्द करके समाधि का आनन्द लेना चाहते हैं, जो कभी सम्भव नहीं है।

सहजोबाई के जीवन का प्रसंग है। उनका ग्यारह वर्ष की उम्र में विवाह हो गया था और द्विरागमन (गौना) होने वाला था। बारात आने वाली थी, सखी-सहेलियाँ चोटी गूंथ रही थीं, श्रृंगार करा रही थीं, दुल्हिन बनायेंगी, ससुराल को विदा करेंगी। सड़क से होकर कोई संत जा रहे थे। सहजोबाई पर उनकी दृष्टि पड़ी, पास आये नहीं, उपदेश नहीं दिया, प्रवचन का इन्तजाम नहीं था। सड़क से जा रहे हैं सन्त। सहजोबाई को देखकर यह गाते हुए निकल गये-"क्षणिक सुहाग के कारणे कहा सजावति माँग"-सहजोबाई ने सुन लिया। सुनकर उनके ध्यान में आ गया कि बात तो सच्ची है। एक आदमी की लगन में क्षणिक सुहाग के लिये जिन्दगी कौन लगाये। बस शाम हुई और बारात आने से पहले सहजोबाई गायब हो गई। मिली ही नहीं फिर। वे बड़ी उच्चकोटि की वीतराग और ज्ञानवती महिला, प्रभु प्रेम की प्रतीक बन गई।

ऐसा दृष्टान्त मैं इसलिये रख रही हूँ कि हम लोगों ने ऐसे-ऐसे उदाहरण सुने हैं जहाँ किसी संत के मुख से कोई वचन निकला, वे कह रहे हैं किसी और से, सुन लिया किसी और ने, जिसको सुना रहे हैं, उसकी समझ में नहीं आया और राहगीर की समझ में आ गया तो उसका काम बन गया। ऐसा हुआ है, होता रहा है। इसी आधार पर मैं कहती हूँ कि हम सभी भाई-बहन जो सत्संग में मन रखते हैं और सुनने के लिये अपने को तैयार रखते हैं तो उनको इस बात को भी मानना चाहिये कि इसी वर्तमान क्षण में अगर आप कदम नहीं उठाते हैं तो फिर मौका मिलेगा कि नहीं-क्या ठिकाना है।

मानव जीवन का दूसरा नाम साधक जीवन भी है। महाराजजी ने तो ऐसा माना है कि बनाने वाले ने तुमको साधक रूप से ही बनाया है। ऐसा कभी मत सोचना कि कोई गुरु मिलेगा, मंत्र दीक्षा देगा, तब हम साधक बनेंगे या किसी प्रकार का विशेष विधि-विधान अपनायेंगे तब साधक बनेंगे। ऐसी बात नहीं है।

विवेक का प्रकाश तुम्हारे भीतर है और उसी में देख-देख करके आप मेरी बातों को समझने की चेष्टा कर रहे हैं। अपने को बड़ा डर लगता है 'जीवन मुक्ति' शब्द सुनकर कि अरे, यह तो बहुत बड़ी चीज है। हम तो संसारी हैं। संसारी, जो कि अपनी इच्छाओं में बँधा हुआ है, उसके लिये यदि जीवन मुक्ति का प्रोग्राम नहीं है तो क्या जीवनमुक्त पुरुषों को मुक्ति चाहिये ? भाई, जो बीमार है उसी के लिये न अस्पताल है। जो रोग से पीड़ित है उसी के लिये न औषधि है। इस दृष्टि से भी हम सभी जीवनमुक्ति के पथ पर कदम बढ़ाने के अधिकारी हैं।

आज अपने ही द्वारा अशांति को मिटा करके शांति में विश्राम लेने की अभिलाषा आपकी है, तो प्रयोग करके देखिये। प्राप्त का दुरुपयोग करेंगे नहीं और अप्राप्त के चिन्तन में फँसेंगे नहीं, तो बड़ी शान्ति मिलेगी। और जिसको भीतर से शांति मिल जाती है, उसको त्रिभुवन का वैभव धूल के समान लगता है।

मनुष्य इतने ऊँचे तत्त्व से बना है, कि एकबार उसको निज

स्वरूप की याद आ गई तो फिर उसे और कुछ नहीं चाहिये। महाराजजी ने बताया था कि जिस महापुरुष ने श्री महाराजजी को ईश्वर की बात बताई तथा संन्यास देकर उन्हें दीक्षित किया, वे महापुरुष उन्हें संन्यास देने के बाद जाते समय कह कर गये कि, 'देखो बेटा ! यदि तुम अपने लिये किसी से कुछ नहीं चाहोगे, अचाह हो जाओगे तो खूंखार शेर गोद में लेकर तुम्हारी रक्षा करेंगे और यह प्रकृति और वनस्पति तुम्हें फल-फूल देने के लिये लालायित रहेगी।' ऐसी सलाह देकर वे चले गये और अपनी स्वरचित एक पंक्ति सुना गये कि-'जीते जी मर जावे, अमर हो जावे, दिल देवे सो दिलवर को पावे।'

स्वामीजी महाराज अपने गुरु की वाणी सुनाते थे हम लोगों को। ज्ञानपंथ की सिद्धि और प्रेमपंथ की सिद्धि-इन दो वाक्यों से हो जाती है। 'जीते जी मर जाने' का अर्थ है- अपनी अतृप्त वासनाओं का त्याग कर देना। जो कुछ नहीं चाहता है उसके अहं का नाश हो जाता है, अमरत्व से उसकी अभिन्नता हो जाती है। जो भौतिक जगत् के सुख भोग को और अमर जीवन की स्वाधीनता को उस परम प्रेमास्पद पर न्यौछावर कर देता है, वह उनका प्रेमास्पद बन जाता है। अभी तो अपने लोगों के लिए उनकी याद ही दुर्लभ है। चेष्टा कर-कर के हैरान हैं। आँख-बंद करें कि कान बंद करें, कौन कमरा बंद करें, कौनसा सहारा लें, कौनसा ग्रन्थ पढ़ें, कहाँ जायें, क्या करें ?-किसलिए भाई ? क्यों हैरान हों ? क्या बतावें ? भगवान की याद निरन्तर नहीं रहती है। बड़ा दुःख है। ईश्वर में विश्वास करने वालों के लिये मुसीबत हो गई है कि भगवान की याद बनी नहीं रहती है।

आज हम लोगों के लिये उनकी याद कठिन हो गई है जो एक पल के लिये भी हमारा साथ छोड़ते नहीं हैं। श्री स्वामीजी महाराज के गुरु महाराज ने एक अचूक औषधि बतादी कि-'जो दिल देवे सो दिलवर को पावे'। तो दिल दे दो और दिलवर को पा लो। इसका अर्थ निकलता है कि जो संसार के सुख भोगों को और परलोक की स्वाधीनता को उस प्रेमास्पद पर न्यौछावर कर देता है वह उनको पा लेता है। उनको पा लेने का अर्थ है कि वे इतने रसिक हैं और प्रेम तत्त्व

को इतना अधिक पसन्द करते हैं कि अपने भक्तों के भक्त हो जाते हैं। उनके हृदय का आनन्द इस प्रकार भक्तजनों के आनन्द से संसार में फैलता रहता है कि उसके स्पर्श को पशु-पक्षी भी पसन्द करते हैं, वनस्पति भी पसन्द करती है और विवेकी पुरुष ने अनुभव किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

ऐसे भी उदाहरण जगत् में हैं। इतना अच्छा लगता है मुझे। खूब आनंद आ जाता है।

भरतलालजी जा रहे हैं चित्रकूट, परम प्रेमास्पद प्रभु के चरणों के दर्शन के लिये। अपनी कुछ कामना ही नहीं, अपना कोई काम ही नहीं। बहुत लोगों ने बहुत प्रकार से समझाया तो शपथ लेकर कहते हैं-मैं क्या बताऊँ, संसार में मेरी बदनामी हो गई-इसका भी मुझको भय नहीं है, और मेरा परलोक बिगड़ जाये, इसकी भी मुझको चिंता नहीं है। मेरे कारण से मेरे प्यारे भाई नंगे पाँव वन में भटक रहे हैं-'सोहि दुःख दाह दहै नित छाती, भूख न वासर नींद न राती'-उसी ज्वाला से मैं जल रहा हूँ। प्रियतम की पीड़ा सहन नहीं हो रही है। उनके भीतर से प्रभु प्रेम की लहरें उमड़ करके उस वन प्रांत में हवा की लहरियों के साथ फैल जाती थीं तो वृक्ष के डोलते हुए पत्ते शांत हो जाते; नदियों की बहती हुई धार थम जाती; पक्षी चहकना छोड़कर चुप हो जाते, गौओं के बछड़े दूध पी रहे होते तो दूध पीने की गति बंद हो जाती। गोस्वामीजी ने बहुत अच्छी अभिव्यक्ति की है-'होत न भूतल भाव भरत को, अचर सचर चर अचर करत को।' मैं सोचती रही, ऐसा कैसे हुआ। तो उदाहरण मुझे मिल गया-सचर सब अचर हो जाते हैं प्रेम के प्रभाव से। उससे मंत्र मुग्ध हो जाते हैं। जहाँ पशु-पक्षियों की, वनस्पतियों की गति रुक जाती है तो भावग्राही विवेकवान मनुष्य, जिसको प्रभु ने अपना ही प्रतिरूप देकर गढ़ा, वह नहीं बदलेगा ? उसके हृदय का ताप नहीं मिटेगा ? उसकी नीरसता का नाश नहीं होगा ? उसमें ईश्वरत्व प्रकाशित नहीं होगा ? अवश्य होगा।

तो इतनी बड़ी महिमा उस महामहिम ने दे करके हम लोगों को दुनिया में भेजा है। बहुत बढ़िया बात है।

जब कभी मामूली-सी बातों से मुझे किसी की मुख-मुद्रा क्षुब्ध दिखाई देती है, तो जी तिलमिला जाता है एकदम। हाय रे मनुष्य ! परम प्रेम का अधिकारी होकर इस जड़ जगत् की तुच्छ वस्तुओं के लिये हृदय को ज्वाला में तपा रहा है। बड़ा दुःख होता है। इस बीमारी को हम सभी भाई-बहनों को वर्तमान में ही खत्म कर देना चाहिये। शरीर में रोग आ सकता है। कोई बात नहीं। लेकिन आपमें कितना विश्वास होना चाहिये, उस मंगलकारी प्रभु के मंगलमय विधान पर ? अपने में हमको कितनी स्वाधीनता होनी चाहिये ? एक शरीर के नाश की चिंता कौन करे ? एक बात की अपूर्ति को कौन गिने ? इतनी निश्चिंतता, इतनी निर्भयता, इतनी स्वाधीनता हमारे में आ सकती है कि आँखों के सामने प्रलय का दृश्य खड़ा हो जाये, तब भी हम विचलित न हों। इतनी निश्चिंतता आ सकती है।

एक संत के पास मैं बैठी थी। उन्होंने पूछा कि इसके बाद आपको कहाँ जाना है ? मैंने कहा-'उल्हास नगर।' मेरे मुख से निकला कि उल्हास नगर जाना है। तुरन्त बोले-'उल्हास नगर'। अहा ! प्रभु-मिलन का उल्हास ! उल्लास कितना मधुर नाम है ! कितना मीठा है ! जब कि मुझको जाना था उल्हास नगर और मेरे भीतर वह मधुर स्पन्दन नहीं हो रहा था। उन्होंने सुना कि देवकीजी उल्हास नगर जा रही हैं तो 'उल्हास' के उच्चारण से उनके भीतर प्रभु-प्रेम का उल्लास भर गया। उसकी मधुरता उनकी वाणी से, उनकी दृष्टि से टपकने लग गई। बड़ा आनन्द आ गया।

अब सोच लीजिये। एक शब्द अगर इस प्रकार से प्रेम के सागर में लहरियाँ उपजा सकता है, तब फिर यह संसार हमको प्रभु-प्रेम से दूर करने वाला नहीं है। हमारे पास वे आँखें नहीं हैं कि हम इसमें उन परम मधुर की मधुरता को देख सकें। वह हृदयशीलता नहीं है कि जिससे हम उनके बरसते हुए प्रेम को पशु-पक्षियों, वनस्पतियों की गतियों में अनुभव कर सकें।

ऐसी जड़ता मैंने अपने भीतर भर ली कि उस जड़ता के कारण अनेकों वर्ष बर्बाद किये। प्रभु की कृपा से, संत की कृपा से, उसके

मंगलमय विधान से आज भी हमारे सामने उस अनन्त जीवन के अनन्त रस का मार्ग खुला हुआ है। बस इतनी-सी बात है कि उसे पसन्द कर लो, और चलना आरंभ कर दो। आरंभ करने में हमारा पुरुषार्थ है। पूरा कराने के लिये वे हर प्रकार से लालायित हैं, तैयार हैं। उनकी ओर से कोई कमी नहीं है।

अब शांत हो जाइये।

(49)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

ईश्वर के अस्तित्व को हम सब लोग अनुभव करते हैं या नहीं करते हैं-इसमें अलग-अलग व्यक्तियों का अलग-अलग उत्तर हो सकता है। परन्तु अपने अस्तित्व को अनुभव करते हो कि नहीं ? इसमें मतभेद नहीं हो सकता। ऐसा कोई भाई नहीं मिलेगा, ऐसी कोई बहन नहीं मिलेगी जो यह कहे कि हम अपने अस्तित्व को अनुभव नहीं करते। हर एक को इतना तो भासित होता है कि 'मैं' हूँ। अब सुखी हूँ कि दुःखी हूँ, धनी हूँ कि गरीब हूँ, विद्वान हूँ कि बेपढ़ा-लिखा हूँ-इसमें भेद हो सकता है। लेकिन 'मैं' हूँ-इस अनुभव में भेद नहीं हो सकता। हर एक मनुष्य अपने अस्तित्व को अपने द्वारा अनुभव करता है, और 'मैं' हूँ-ऐसा कह कर प्रकाशित करता है।

संत वाणी में मैंने यह सुना कि तुम अपने अस्तित्व को तो जानते ही हो। यह कोई मानने की बात नहीं है। तो जो अपने अस्तित्व को स्वीकार करता है वह व्यक्ति उसको कैसे नहीं स्वीकार करेगा जिसमें से उसकी उत्पत्ति हुई है ? अपने आधार को कैसे नहीं मानेगा ?

मैंने अपने को अपने से नहीं बनाया। ठीक है ? हम लोगों के पास ऐसा कोई मेटिरियल (सामग्री) है क्या, जिसमें से "मैं" बनाया जा सके ? नहीं है। तो जिसमें से यह 'मैं' बना है उसकी सत्ता को मानना

अनिवार्य हो जाता है। 'मैं' हूँ-इस बात को हम लोग जानते हैं और जिसमें से इस 'मैं' की उत्पत्ति हुई है, उसको मानते हैं- ऐसा मानना पड़ेगा। नहीं जानते हैं तो कोई बात नहीं। आज नहीं जानते हैं, कल जान लेंगे। लेकिन मानना तो पड़ेगा ही।

जैसे प्रकाश जब फैलता है तो सूर्य के न दिखाई देने पर भी हम लोग इस बात को मान लेते हैं कि सूर्योदय हो गया और जैसे यहाँ अभी कोई खूब सुगन्ध फैल जाये, तो जिस पुष्प में से सुगन्ध फैल रही है, उस पुष्प को न देखने पर भी हम लोग इस बात का अनुमान लगा लेंगे कि आस-पास में कोई बहुत बढ़िया फूल खिला होगा।

इसी तरह से 'मैं-पन' का अस्तित्व जो हम लोगों को भासित होता है, हर भाई को, हर बहन को, हर दशा में, इस 'मैं-पन' की उपस्थिति को देखकर हम सब लोग इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि 'परमात्मा है'। जिसमें से 'मैं' की उत्पत्ति हुई, उसी को परमात्मा कहते हैं। जिसमें से यह अहंरूपी अणु निकला है उसी को परमात्मा कहते हैं। उसी को सत्य कहते हैं, उसी को ब्रह्म कहते हैं, उसी को नित्य तत्त्व कहते हैं, उसी को परम तत्त्व कहते हैं। उसे अनेक नामों से संबोधित करते हैं, लेकिन है वह एक ही। और मेरे लिये उसके साथ सम्बन्ध मानने का बड़ा भारी आधार यह है कि हम सब लोग अपने अस्तित्व को स्वयं ही अनुभव करते रहते हैं।

इस तरह से जब 'मैं' हूँ। तो मेरी उत्पत्ति का आधार भी है, और मेरी प्रतीति का प्रकाशक भी है। इसलिये जब ईश्वर को मानने वाला है, तो ईश्वर भी है। इस तरह से और दूसरा कोई भी प्रमाण न खोजा जाये तो मेरा ऐसा विचार है कि मनुष्य के जीवन का जो अपना अस्तित्व भासित होता है, यही सबसे बड़ा प्रमाण है कि परमात्मा है और दूसरा कहाँ खोजने जायेंगे ? ग्रन्थों में तो बहुत मतभेद हैं, अनेक प्रकार के दर्शन हैं। कोई कुछ, कोई कुछ विविध प्रकार की बातें कहते हैं। मतभेदों में न जा करके निर्विवाद सत्य को स्वीकार करें तो यह मानना पड़ेगा कि जब मेरा अस्तित्व है, तो यह अस्तित्व जिसमें से

निकला है, वह अस्तित्व भी अवश्य है। इस तरह से हम दोनों का अस्तित्व प्रमाणित हो जाता है।

अब आगे क्या करना है ? मेरा उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? उसके साथ मेरा क्या व्यवहार होना चाहिये, क्या लगाव होना चाहिए? तो अनुभवी भक्तजनों ने यह कहा कि वह तुम्हारा नित्य सम्बन्धी है, अर्थात् उसके साथ तुम्हारा ऐसा सम्बन्ध है जो कभी मिटेगा नहीं, घटेगा नहीं, टूटेगा नहीं। तो क्या करें ? तो ऐसा करो कि संसार में रहते हुए और संसार का काम करते हुए, यदि तुम उस आनन्दस्वरूप से अभिन्न होकर, आनन्दमय अस्तित्व को पसन्द करते हो, तो उसे अपना मानना आरम्भ करो। अपना क्यों मानें ? अपना इसलिये मानो कि अपना माने बिना प्रेम का भाव उदित होता नहीं है, और प्रेमभाव के बिना उस अनन्तस्वरूप परमात्मा से अभिन्नता नहीं होती है। अपनापन जो है, वह प्रेम का आधार है और प्रेम का प्राकट्य जो है, वह परमात्मा से मिलने का साधन है।

चिर पुरातन, सनातन सत्य है यह परमात्मा को पाने का, उनसे अभिन्न होने का। पाने का कहना भी नहीं बनता है। जो प्राप्त है उसको प्राप्त क्या करना है ? उसकी प्राप्ति का अनुभव चाहिये अपने को, उससे अभिन्नता चाहिये। इसके लिये आधार है प्रेम और उस प्रेम का आधार है अपनेपन का नाता। जिसको आप अपना मान लेते हैं वह अपने को प्रिय लगने लगता है, अच्छा लगने लगता है। इसमें इतनी दार्शनिकता की बात नहीं है, लेकिन यह मनोवैज्ञानिक स्तर की चर्चा है। चूँकि मनुष्य स्वयं को बहुत पसन्द करता है, अपने को बहुत प्यार करता है इसलिये उस अपनेपन के साथ जिसका नाता जुट गया, वही प्रिय लगने लगता है। वस्तु हो तो क्या ? और व्यक्ति हो तो क्या ?

भक्तजन कहते हैं कि घट-घटवासी, नित्य विद्यमान परमात्मा की विद्यमानता का आनन्दमय अनुभव तुम्हें लेना है तो उसे अपना मानना आरम्भ करो। अपना मानने से क्या होगा ? कि वह अच्छा लगने लगेगा, प्रिय लगने लगेगा और उसके प्रति प्रियता जो है, वही उससे

अभिन्न होने की साधना है। यह खास बात है। नाम लेते हो कि नहीं ? मंत्र जपते हो कि नहीं ? मंदिर जाते हो कि नहीं ? नित्य नियम पालते हो कि नहीं ?-यह तो तुम्हारी रुचि, योग्यता, सामर्थ्य पर निर्भर करता है कि क्या करोगे, क्या नहीं करोगे, सब कुछ करो। जो भी कुछ अपने को पसन्द आवे, जो भी कुछ अपने को ठीक लगे इस दिशा में, परमात्मा से अभिन्न होने के लिये, वह सब कुछ करो, लेकिन सबका मूल आधार होगा कि परमात्मा को आप अपना मानते हैं कि नहीं।

पहली बार जब मैं इस प्रकार की चर्चा सुनने लगी तो उस समय तो मेरे ध्यान में नहीं आया। बहुत समय लगाना पड़ा। शक्ति लगानी पड़ी, इस बात को ग्रहण करने के लिये। लेकिन अब मैं सोचती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है, कि सचमुच इस संसार में मनुष्य की सजातीयता और किसी से है ही नहीं, हो ही नहीं सकती। अपना है अगर कोई, तो वही परमात्मा है, जिसको कि अभी तक हमने देखा नहीं है, जाना नहीं है। लेकिन वह विद्यमान है और उसकी विद्यमानता का ही यह प्रभाव है कि बिना देखे, बिना जाने भी हम लोगों से उसकी चर्चा किये बिना रहा नहीं जाता है। बातचीत होती ही रहती है। नाम लेते ही रहते हैं। विविध प्रकार के विचार उसके सम्बन्ध में ऐसे प्रकट करते ही रहते हैं; जैसे कि वह एक अविभाज्य तत्त्व है हमारे जीवन का।

उस परमात्मा के साथ अपने को क्या करना है ? मैंने अनुभवी संत के मुख से यह सुना कि मनुष्य सेवा के द्वारा संसार के लिये और प्रेम के द्वारा प्रभु के लिये उपयोगी होने आया है। बहुत बढ़िया बात है और बड़ी ऊँची बात है, कि भगवान के लिये भी यह मानव-जीवन उपयोगी होता है।

हमने तो यही समझा था कि हम तो जन्म-मरण के बन्धन में फँसे हैं, तो अपने उद्धार के लिये भगवान को मानेंगे। बहुत प्रकार के दुःखों में फँसे हैं, उनसे छुटकारा पाने के लिये भगवान को मानेंगे। स्वामीजी महाराज ने मुझे यह दृष्टिकोण दिया कि भाई, दुःख से छूटने के तो और भी उपाय हैं। जीवन-मुक्ति के तो और भी उपाय हैं, लेकिन अनन्त

प्रेम-रस के माधुर्य से जीवन को भरपूर करने के और उपाय नहीं हैं। एक ही रास्ता है। वह क्या है ? कि परमात्मा के साथ नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करो और अपनेपन के नाते से जब तुम्हारे जीवन में उसके प्रति प्रियता पैदा होगी, उसी प्रियता से तुम्हारी वे आँखे खुल जायेंगी जिनसे कि-'जित देखूँ तित तू ही तू' नजर आने लगेगा।

आज कैसा लगता है ? आज हमारी दशा यह है, कि भगवान की चर्चा करते हुए भी जब आँखें खोलकर हम लोग देखते हैं तो संसार दिखाई देता है और आँखें बंद करलें तो अन्धकार दिखाई देता है। नाम लेते रहो भगवान का, तो मालूम होता है कि भगवान का हमारे जीवन से कोई सम्बन्ध (Connection) ही नहीं है। पता नहीं कहाँ है, कैसा है ? हम तो जब आँखें खोलते हैं, तो सृष्टि के विविध रूप के दृश्य दिखाई देते हैं।

लेकिन, जो भक्तजन होते हैं, वे आँखें खोलते हैं तो कहते हैं- 'जित देखूं तित तू ही तू'। वे आँखें बंद करते हैं तो भीतर भी वही है, और बाहर देखते हैं तो बाहर भी वही है-जित देखूं तित श्याममयी हैं। उससे भिन्न और कुछ है ही नहीं। तो उनमें कौनसी विशेषता है ? और हममें क्या कमी हो गयी कि हम नाम लेते हैं भगवान का, और आँख खोलते हैं तो संसार देखते हैं, और बन्द करते हैं तो घोर अन्धकार ?

आप इस अन्तर को मिटाना चाहेंगे कि नहीं ? पसन्द तो हम लोगों को भी यही आता है -'जित देखूँ तित श्याममयी है'। जिन भक्त का यह पद्य है आगे चलकर वे कहते हैं कि आकाश में नीले बादल उमड़ रहे हैं तो उसमें घनश्याम का दर्शन हो रहा है। धरती पर यमुनाजी का नीला-नीला जल बह रहा है तो उसमें भी घनश्याम का दर्शन हो रहा है। हवा से वृक्ष के पत्ते हिल रहे हैं, तो उनमें भी श्याम का दर्शन हो रहा है। वृक्षों पर पक्षी बोल रहे हैं, तो उनमें भी श्याम का दर्शन हो रहा है। ऐसा कहते-कहते उस भक्त ने कहा कि क्या हो गया ? अंत में कहते हैं कि-'नैन पुतरिया पलट गई हैं'। पुतरिया पलट गई हैं-इसलिये जित देखूं तित श्याममयी है।

हमारी यह दृष्टि, ये नेत्र, ये पुतली जो है देखने की-ये कैसे बदलेंगी ? तो भक्तजन कहते हैं कि भैया, जब तुम्हारे हृदय में परमात्मा के प्रति प्रेम होगा, और प्रेम भरी दृष्टि से जब तुम देखोगे, तो सिवाय प्रेमास्पद के और कुछ भी दिखाई नहीं देगा। आज मेरी दृष्टि में क्या है ? मनोविज्ञान और मानव दर्शन, इन दोनों के आधार पर यह बात प्रमाणित हो गई कि आज मेरी दृष्टि में संसार को देखने का राग है, इसलिये संसार दिखाई देता है। मनोविज्ञान के अध्ययन में बड़ा विवेचन होता था इस विषय पर, `We donot see things as they are, we see things as we are.

संसार का जो दृश्य है, उसको हम लोग वैसा नहीं देखते हैं जैसा वह है। संसार को हम लोग कैसा देखते हैं ? जैसे हम हैं।

हम में संसार को देखने की वासना है तो उस वासना के प्रतिरूप संसार हमें दिखाई दे रहा है। जो सुख का लोभी है, वह कहता है कि संसार बड़ा सुहावना है और कबीरजी से सलाह पूछो कि संतजी, बताइये कि संसार कैसा है ? तो कहते हैं-'हाड़ जले जैसे लकड़ी, केस जले जैसे घास, सब जग जलता देखकर, कबिरा भया उदास।' उनको तो कुछ सुहावना, लुभावना दिखता ही नहीं। उनको तो सब काल की अग्नि में जलता-सा दिखाई देता है। भक्त से पूछो कि महाराज, बताइये, आप क्या देख रहे हैं ? तो वे कहेंगे कि- 'जित देखूं तित श्याममयी है।' न उनको दुःख दिखाई दे, न उनको सुख दिखाई दे, न उनको विविध रूप दिखाई दे। उनको तो एक ही रूप दिखाई दे रहा है और सब जगह उसी का दर्शन हो रहा है। आप क्या देख रहे हैं ? प्यारे और प्यारे की लीला देख रहा हूँ। तो सचमुच दृश्य कैसे हैं ? यह किसी को पता नहीं। वैज्ञानिक स्तर पर विश्लेषण करने से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ति वही देखता है, जैसी उसकी देखने की पृष्ठभूमि है।

इसलिये मैं यह निवेदन करती हूँ, कि हम सब लोगों को मनुष्य होने के नाते केवल वैज्ञानिक पृष्ठभूमि को लेकर संसार को कभी नहीं

देखना चाहिये। यह तो सृष्टि का एक पहलू है-एक अंश है। यह पूरा विवरण नहीं बता सकता है। उस पर भी अगर ध्यान दो, उसके सम्बन्ध में भी सोच-विचार करो, अनेक प्रकार के शब्द, विपर्यय और illusions (भ्रमात्मक दृश्यों) का अध्ययन करो, तो ऐसा लगता है कि दृश्य है कुछ और व्यक्ति देख रहा है कुछ और। कुछ ठिकाना नहीं है।

यह दशा कब तक रहती है ? जब तक हम सब लोग राग-द्वेष के फेर में पड़े रहते हैं, जब तक शरीर के द्वारा सुख भोग की वासना है, तब तक यही दशा रहती है। इन्द्रिय दृष्टि के प्रभाव से प्रेरित हो, तो संसार सुख-दुःख का द्वन्द्व दिखाई देगा और विवेक की दृष्टि से देखना आरम्भ करो तो निरन्तर परिवर्तन दिखाई देगा, और सभी दृष्टियों के पार जाओ तो निजस्वरूप से भिन्न कुछ दिखेगा ही नहीं और प्रभु के प्रेम से दृष्टि भर जाये तो सर्वत्र प्रेमास्पद ही दिखेगा। तो यह सृष्टि की विविधता है या हमारे देखने की विविधता है ? देखने के यंत्र में फरक है न ? और नहीं तो क्या जानें कि सृष्टि कैसी है।

आपने विवेकीजनों के मुख से यह भी सुना होगा कि सृष्टि त्रिकाल में न कभी हुई, न है, न होगी। आज हम लोगों को कैसा लग रहा ? 'सृष्टि है'- ऐसा लग रहा है। आज हमें यह दिख रहा है कि दृश्य है, और सुख भोग से प्रेरित हो जाओ तो कैसा लगेगा ? तो लगेगा कि बड़ा आकर्षक है।

एक साहित्यकार का वचन मैं महाराजजी को सुना दिया करती थी-

'माया के इस मोहक बन की, क्या कहूँ कहानी परदेसी।'

तो महाराजजी कहते कि अरे देवकीजी, यह सुख भोगी की दृष्टि है। सुख भोग से जो प्रेरित है, उस लालच में जो फँसा हुआ है, उसी को ऐसा दिखाई देता है कि बड़ा मोहक है, बड़ा आकर्षक है। और नहीं तो तुम सच जानो, महाराजजी ने मेरी समस्या को हल करने के लिये यह सलाह दी कि इस सृष्टि में, इस जड़ जगत में सामर्थ्य नहीं है कि यह चेतन मनुष्य को अपनी ओर आकर्षित कर सके। यह तो हमारी

बेइज्जती है। हम जब अपना मूल्य घटा लेते हैं, अपने चेतन स्तर से नीचे उतर जाते हैं। तो संसार आकर्षक लगता है। नहीं तो संसार में है क्या ? जो अमर जीवन का अधिकारी है, जो अमृत पुत्र है, जो अनन्त आनन्द का अधिकारी है, जो परमात्मा को प्रेम रस प्रदान करने वाला है, वह संसार के प्रति आकर्षित हो जाये, तो उसकी इज्जत बढ़ गई कि घट गई ? सोचो।

महाराजजी ने यह बात मुझे बताई तो उसके बाद मैंने अपने को सँभालना आरम्भ किया। उतनी ही वस्तुओं से सम्बन्ध रखो जितनी कम से कम शरीर के भरण-पोषण एवं सेवा के लिये जरूरी हों और विधान से सहज से प्राप्त हों-ऐसा सोच करके जब मैं अपने को सँभालने लगी तो उसके बाद से सखी-सहेलियों के साथ आते-जाते, घूमते-फिरते, काम करते जहाँ भी कहीं मेरी दृष्टि किसी वस्तु पर जा कर टिक जाती, और ऐसा लगता कि यह बहुत सुन्दर है, तो थोड़ी देर में एकदम से याद आ जाता तो इतनी लज्जा लगती अपने भीतर-भीतर, कि मैं एकदम सकुचा कर रह जाती; कि अच्छा ! अभी भी तुमको वस्तु में सुन्दरता दिखाई देती है ? अभी भी तुम्हारी दृष्टि किसी वस्तु पर टिकती है ? तो बड़ी सावधानी आ गई मुझमें और यह रहस्य बिल्कुल स्पष्ट हो गया, कि मनुष्य अपना सही मूल्यांकन करके संसार में रहे और ज्ञान के प्रकाश में अविनाशी जीवन से अभिन्न होना अपना लक्ष्य बनावे या हृदय में ईश्वरीय प्रेम भरके उस प्रेमस्वरूप परमात्मा को रस प्रदान करने की-अपनी उस महिमा को याद रखे, तो सचमुच संसार की कोई वस्तु उसको आकर्षित नहीं कर सकेगी। खिंच जाते हैं अगर हम, तो इसका मतलब है कि ज्ञान और प्रेम की दृष्टि से हमने अपने को हटा लिया। भोग की दृष्टि प्रधान हो गई, तभी किसी व्यक्ति पर या किसी वस्तु पर आँख जा करके टिकी है।

और नहीं तो आप सोचिये कि जो ब्रह्म को रिझा सकता है, जिसके प्रेम-भाव का आदर करने के लिये ब्रह्म, ब्रह्म-भाव का त्याग करके, जीव-भाव स्वीकार करके, शरीरधारी होकर आपके आगे उपस्थित

हो सकता है; दो हाथ, दो पाँव वाला बन करके आपके साथ खेलने को मचल सकता है, उस मनुष्य की महिमा का क्या वारापार है ?

रसखान का सवैया आप लोगों ने सुना होगा। पढ़ा भी होगा :-

"ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पे नाच नचावें"

यह तो अवतार की बात है। अभी भी ऐसा है कि मनुष्य जब संसार की ओर से मुख मोड़ करके परमात्मा को पसन्द करने लग जाता है, तो उसकी भावना का आदर करने के लिये वह परमात्मा कितना आनंदित होकर कैसी-कैसी लीलायें रचता है।

अभी थोड़े दिन पहले की बात है। एक भक्त मुझको सुना रहे थे। अयोध्याजी में, कनक भवन में भगवान श्रीराम विराजमान हैं। एक भक्त वहाँ पर आते थे और आँगन में खड़े हो करके दूर से दर्शन करते थे। प्रणाम नहीं करते थे। भीतर-भीतर पता नहीं क्या कहते होंगे, वह तो वे ही जानें। सब लोग देखते थे उनको। एक दिन पुजारी लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। कैसा आदमी है ! हमारे सरकार के सामने आता है, राघवेन्द्र सरकार के दरबार में आता है और प्रणाम नहीं करता है। पकड़ लिया उन लोगों ने, क्या करते हो जी ? प्रणाम क्यों नहीं करते हो ? तो हँसने लगे वे भक्त, मुस्कराने लगे। कहने लगे भैया, मेरा रिश्ता ही ऐसा है कि मैं प्रणाम नहीं कर सकता। पूछने लगे लोग कि भाई, ऐसी क्या बात है, आपको बताना पड़ेगा। आप क्या रिश्तेदार लगते हैं हमारे सरकार के, कि आप प्रणाम नहीं करेंगे ? बताना तो वे नहीं चाहते थे। सच्चे भक्त अपना भेद खोलना पसन्द नहीं करते हैं। वे कहना तो नहीं चाहते थे, लेकिन पुजारियों ने बहुत तंग किया, तो बेचारे को कहना पड़ा- तुम्हारे सरकार मेरे शिष्य हैं और मैं तो आशीर्वाद देने आता हूँ। प्रणाम कैसे करूँ ? इस पर पुजारी लोग बिगड़े। बड़े आये हैं हमारे सरकार के गुरु बनने। तुमको प्रमाण करना पड़ेगा। तुमको दिखाना पड़ेगा कि तुम कैसे सरकार के गुरु हो ? तो बेचारा-क्या करे ? भक्त आदमी। कहने लगा कि अच्छा भाई, किसी दिन देख लेना। हम क्या बतायें। चले गये।

भक्त का अपना जो नियम है, वह रोज करते ही हैं। उसको तो छोड़ेंगे नहीं। तो पता नहीं, एक दिन क्या हुआ उन सज्जन को। वे पूजा करके घर में से आये होंगे। गले में फूल की माला पहन कर आये थे। आ करके कनक भवन के आँगन में खड़े हुए और प्रतिदिन की भाँति वैसे ही खड़े रहे। थोड़ी देर के बाद वे बढ़कर मंदिर में पहुँच गये, सरकार के पास भीतर, और अपने गले में से फूल की माला निकाली। अब गुरु महाराज आशीर्वाद ही तो देंगे, प्रसाद ही तो देंगे ! और क्या करेंगे ? फूल की माला उन्होंने निकाली भगवान को पहनाने के लिये। तो जितने लोग वहाँ उपस्थित थे, पुजारी भी और दर्शनार्थी भी, मंदिर और मंदिर का आँगन भरा हुआ था लोगों से, सब लोगों ने देखा कि इन्होंने जैसे ही अपने गले में से माला निकाली और अर्पण करने के लिये बढ़े तो कनक बिहारीजी ने सिर झुका कर गुरु महाराज की माला पहन ली। देख लिया सब लोगों ने। प्रमाणित हो गया कि यह हमारी सरकार के गुरु हैं। इन्होंने प्रसाद दिया और शिष्य ने स्वीकार कर लिया।

यह आज की बात है ! अवतारी हो करके, भक्तजनों की भक्ति का आदर करने के लिये, प्रेमीजनों के प्रेमरस से अपने को आनंदित करने के लिये और अपने प्रेम से भक्तजनों के जीवन को भरपूर करने के लिये उन लीलाधारी ने क्या-क्या लीलायें नहीं की हैं ? कोई इतना जान ही नहीं सकता है। किसी को उतना पता ही नहीं चलता है। लेकिन अपने आत्मीय भाई-बहनों को मैं निवेदन कर रही हूँ कि आज भी आप चाहें तो आपके पास वह अनमोल निधि है कि जिसके आधार पर अनन्त परमात्मा से अपनी जान-पहिचान हो सकती है; मिलना-जुलना हो सकता है; अत्यन्त घनिष्टता हो सकती है। इतनी घनिष्टता हो सकती है, कि उनकी विभूतियाँ आप ही के भीतर में प्रकट हो करके आपके जन्म-जन्मान्तर का दुःख भी मिटा दें, अभाव भी मिटा दें, ज्ञान के प्रकाश से सब सन्देह का निवारण भी कर दें और प्रेम के रस से आपको सराबोर भी कर दें। आज भी ऐसा हो रहा है और सदैव ऐसा होता रहेगा।

अब तो मेरा जी होता है ऐसा कहने का, कि मनुष्य के जीवन में अगर कोई उपलब्धि है, तो यही है। इससे भिन्न और कोई उपलब्धि है ही नहीं। और क्या हो सकता है भाई ? मैंने बहुत परिश्रम करके पढ़ना-लिखना किया। प्राध्यापकी कर ली। उसको छोड़ने के लिए जिस दिन त्याग-पत्र लिख कर मैं प्राचार्या के सामने कार्यालय में हस्ताक्षर कर रही थी, तो भीतर-भीतर मन ही मन पूछ रही थी कि बड़े परिश्रम से तुमने डिग्रियाँ ली थीं। अब इस सिगनेचर के बाद डिग्रियाँ किस काम में आयेंगी ? क्या अर्थ है उनका ? कोई अर्थ नहीं है। न कमाये हुए धन का कोई अर्थ है, और न बड़े जतन से पाले हुए शरीर का ही कोई अर्थ है। आज यह शरीर बड़ा अच्छा लग रहा है और अगर इसी में कोई भंयकर रोग प्रवेश कर जाये तो शरीर को रखना पसन्द करता है आदमी, कि खत्म करना पसन्द करता है ? सुना है मैंने बीमारों के पास उनके दर्द में शामिल होते समय कि भाई, अब तो कुछ ऐसा उपाय करो, कि यह जल्दी से जल्दी खत्म हो जाये। अब बर्दाश्त नहीं होता है। ऐसा होता है न ! तो क्या अर्थ है इसका? कि और किसी उपलब्धि का कोई अर्थ नहीं है सिवाय इसके कि इस जीवन में, सत्संग के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है तो भाई, सही अर्थ में सत्संग करके सदा-सदा के लिये सब झंझटों से छुट्टी पाओ ! क्या फायदा है फँसे रहने में ? क्या फायदा है सुख-दुःख के द्वन्द्व में झूलते रहने में ? आज अच्छा लग रहा है, अभी बुरा लग रहा है; अभी जीवन मालूम होता है, अभी मृत्यु का भय सता रहा है। अभी बहुत प्रिय लग रहे हैं प्रियजन, अभी बहुत दुश्मन लग रहे हैं। क्या दशा है हम लोगों की ? भला सोचो तो !

आप बड़े भाग्यशील हैं। आपको प्रभु ने सत्संग का अवसर दिया है। आपके भीतर सत्संग के प्रति रुचि उत्पन्न हुई है-यह भी उनकी विशेष कृपा ही है। तो इस अवसर से हम सब लोग लाभ उठायें और इस सत्य को स्वीकार करें कि जिस ईश्वर की हम चर्चा करते हैं और जिसकी महिमा गाते हैं, वह ईश्वर नित्य निरन्तर हम सब भाई-बहनों के साथ इसी वर्तमान में विद्यमान है।

जिस समय बैठकर हम लोग बातें कर रहे हैं और ईश्वर की चर्चा कर रहे हैं, तो आप सोच करके देखिये कि वह ईश्वर इसी समय हम सभी भाई-बहनों में विद्यमान है कि नहीं है ? कहीं दूर से खोज-ढूँढ़ करके लाना तो नहीं है। उसके विद्यमान होते हुए भी उसकी जो विभूतियाँ हैं, उसका जो स्वरूप है, उसका जो अस्तित्व है, जिसमें अनन्त आनन्द है, जिसमें अनन्त माधुर्य है, उस आनन्द, उस माधुर्य का अपने लोगों को कुछ पता ही नहीं चल रहा है। पता चल रहा है किस बात का ? कि मुझे अमुक-अमुक प्रकार का सुख है और मुझे अमुक-अमुक प्रकार का दुःख है। पता चल रहा है सुख और दुःख का और विद्यमान कौन है ? जो सहज आनन्दस्वरूप है।

आप सब लोग रामचरित मानस के प्रेमी हैं। जगह-जगह पर मैं पढ़ती हूँ। सीताजी की खोज करते फिर रहे हैं। उसी बीच में गोस्वामी तुलसीदासजी ने लिखा है -

'बैठे परम प्रसन्न कृपाला'

आश्चर्य होता है मुझे ! उस परिस्थिति में भी "बैठे परम प्रसन्न कृपाला !" क्योंकि आनन्द स्वरूप ही हैं वे। उनका आनन्द हम लोगों की तरह परिस्थिति पर निर्भर नहीं है। राज्याभिषेक की सूचना दी गई थी और अभी सवेरा हो ही रहा है, तैयारी हो रही है तभी बनवास की सूचना आ गई। तो क्या लिखते हैं गोस्वामीजी -

'हर्ष विषाद न कछु उर आवा।'

राज्याभिषेक का समाचार पा करके कोई हर्ष नहीं है और बनवास का समाचार पा करके कोई उदासी नहीं है। आनन्दस्वरूप ही हैं वे; रसस्वरूप ही हैं। वे हमारे भीतर इसी क्षण में विद्यमान हैं। उस रसस्वरूप के विद्यमान होते हुए भी हमारे मस्तिष्क में तनाव क्यों है ? आँखों में असंतोष का भाव क्यों है ? चेहरे पर उदासी क्यों है ? क्या बात हो गई भाई ? बात केवल इतनी हो गई, कि जिसके संयोग से सुख-दुःख आता है, जिसके संयोग से क्षति-वृद्धि होती है, उसी को मैंने पसन्द कर लिया है और जो आनन्दस्वरूप हैं, प्रेमस्वरूप हैं, उनको तो

मैंने प्रतीक बनाकर मन्दिर में बैठा दिया है। इसका मतलब यह मत समझना कि मन्दिर में बैठाने का मैं विरोध कर रही हूँ। विरोध नहीं कर रही हूँ। हाड़-मांस के शरीर को रखने के लिए ईंट, पत्थर जोड़ करके महल बनाते हो तो जो भीतर है, बाहर है, कण-कण में व्याप्त है उस परमात्मा को रखने के लिये, उनके प्रतीक को सामने रखने के लिये मन्दिर क्यों नहीं बनाओगे ? मन्दिर जरूर बनाओ, उसमें परमात्मा को जरूर बैठाओ और उनकी पूजा भी करो। लेकिन उनकी मन्दिर तक ही सीमा है कि तुम्हारे हृदय तक है ? जी ? हृदय तक है न। तो उनके प्रेम की जो अभिव्यक्ति है, वह मनुष्य के हृदय में होती है।

सारी सृष्टि में सबसे मूल्यवान तत्त्व जो है, वह मनुष्य का हृदय है। उसके समान और कुछ नहीं है, क्योंकि उसी हृदय में अनन्त परमात्मा का प्राकट्य होता है। सारी सृष्टि में सबसे मूल्यवान जीवन जो है, वह मनुष्य का है; क्योंकि उसी मनुष्य के माध्यम से ईश्वर अपने ईश्वरत्व को इस संसार में प्रकट करते हैं। खुद भी आ करके उनको काम करना पड़ा तो मनुष्य का शरीर धारण करके ही उन्होंने हम लोगों को सब कुछ कर दिखाया। कितना प्रभाव होता है इस बात का ! कितना महत्त्व है इस जीवन का।

मैं कोई नई बात कहने के लिये आपके पास नहीं आई। अपने पूज्य अनुभवी महाराजजी से मैंने यह सुना था कि नई बात दुनिया में क्या हो सकती है ? जो सत्य है वह चिर पुरातन है - वह सनातन है। उसमें नई बात कुछ नहीं हो सकती है। ये सब बातें आपकी पहले की सुनी हुई हैं, जानी हुई हैं, और आप इस विषय में सोचते-विचारते भी रहते हैं। मैं केवल इतना निवेदन कर रही हूँ कि अब तक हम जो कुछ परमात्मा के सम्बन्ध में सोचते आये, पढ़ते आये, कहते और सुनते आये, उन सारी बातों का स्पष्टीकरण, प्रत्यक्षीकरण अपने में अपने द्वारा हो सकता है। इस सत्य को आज स्वीकार करें। अब शान्त हो जाइये।

(50)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

संसार में जो समय हम लोगों ने बिताया, उससे अपने को इस बात का पता चल गया कि अपनी हर आवश्यकता की पूर्ति संसार नहीं कर सकता है, जैसे कि सदा-सदा का साथी संसार में नहीं मिलेगा। ऐसा मधुर, अलौकिक, परम पवित्र प्रेम का रस, जो जन्म-जन्मान्तर के विकारों को धो डाले, जो सदा-सदा के लिये मुझे कृत-कृत्य करदे, उसे प्रदान करने में यह जड़ जगत् असमर्थ है।

अब इस आवश्यकता की पूर्ति कैसे होगी ? - यह एक जिज्ञासा होती है मनुष्य के भीतर। अनुभवी संतजन इसका उत्तर देते हैं। सद्ग्रंथों में इसका उत्तर लिखा हुआ है कि भाई, संसार में मनुष्य की सभी आवश्यकताओं की पूर्ति की सामर्थ्य नहीं है। जो बातें संसार से हो सकती हैं, उन बातों की सीमा शरीरों तक है। अपनी जो आवश्यकता है, उसकी पूर्ति तो केवल परमात्मा से हो सकती है।

ईश्वर को मानने वाले भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन है, कि हम सब लोगों को ईश्वर तत्त्व और ईश्वर विश्वास को जीवन का अनिवार्य अंग मानना चाहिये। अपनी आवश्यकता की पूर्ति ईश्वर से ही हो सकती है, जड़ जगत् से नहीं। क्या चाहिये अपने को ? मैंने अपना दुःख स्वामीजी महाराज को सुनाया था कि संसार में अपना कहने के लायक कोई दिखाई नहीं देता है, और मनुष्य के जीवन की रचना ऐसी है कि वह बिना किसी को अपना बनाए रह नहीं सकता। नीरसता का नाश नहीं होता, अपूर्णता का नाश नहीं होता।

संतजन सलाह देते हैं, कि सदा-सदा के लिये साथ देने के लायक अकेला परमात्मा ही है और सच पूछो तो उसी से तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है। नित्य सम्बन्ध कहने का अर्थ है, ऐसा सम्बन्ध जो कभी भी टूटता नहीं है। संसार में जितने सम्बन्ध हम मानते हैं, वे सब सम्बन्ध अनित्य होते हैं। उनका आरम्भ होता है और अन्त होता है। सम्बन्ध मान लिया और सम्बन्ध खत्म हो गया। जो सम्बन्ध ऐसा होता है कि

बन भी जाये, और टूट भी जाये, उसको अनित्य सम्बन्ध कहते हैं।

लेकिन, जो ऐसा सम्बन्ध है कि हमारे भूल जाने पर भी मिटता नहीं है; हमारी ओर से विस्मृति हो जाए, तब भी टूटता नहीं है, ऐसा सम्बन्ध, नित्य सम्बन्ध कहलाता है। मनुष्य के जीवन की जिज्ञासा को देखकर, मनुष्य की आवश्यकता को देखकर यह उत्तर संतजनों और सद्ग्रन्थों से मिलता है कि यदि तुमसे किसी को अपना बनाये बिना रहा ही नहीं जाता; किसी को प्यार किये बिना तुम रुक ही नहीं सकते और किसी के प्यारे बने बिना तुमसे रहा ही नहीं जाता तो तुम्हारी इस आवश्यकता की पूर्ति केवल परमात्मा ही कर सकता है, और दूसरा कोई नहीं कर सकता। यह उत्तर है। अब क्या करें ?

उस बिना देखे, बिना जाने को, अपना मानने का साहस आप में है। यह मनुष्य की विशेषता है, और किसी योनि में यह सामर्थ्य नहीं है। मनुष्य में यह सामर्थ्य है कि वह देखे हुए संसार को इन्कार कर देता है कि नहीं.....नहीं..., मुझे नहीं चाहिये; और बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा पर, बिना किसी शर्त के अपने को समर्पित कर देता है। बड़ी बहादुरी की बात है। सहज नहीं है। लेकिन है। किस आधार पर हम लोग ऐसा करते हैं ? इस आधार पर करते हैं कि जन्मदाता ने विवेक का एक प्रकाश हम लोगों को दिया है। उसी प्रकाश में यह दिखाई देता है कि दृश्य जगत् में कहीं भी स्थायित्व नहीं है। सबमें निरन्तर परिवर्तन हो रहा है। उत्पत्ति और विनाश का अनवरत क्रम चल रहा है। निर्माण होता जा रहा है, विनाश होता जा रहा है। संगठन होता जा रहा है तो विघटन भी होता जा रहा है।

मनुष्य, विवेकशील होने के कारण, संसार के इस स्वरूप को जान लेता है, और जान लेने का प्रभाव यह होता है, कि वह देखे हुए संसार की ओर से मुख मोड़ लेता है। फिर उसी की हृदयशीलता में यह विशेषता है कि वह बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को, बिना किसी शर्त के, अपने को समर्पित कर देता है कि इस संसार में अपना करके कहने के लायक कुछ है नहीं; और आपको अपना माने बिना हम

रह सकते नहीं। तो हे प्यारे ! यह तुच्छ जीवन, अभावों से भरा जीवन, अपूर्ण जीवन, चाहे जैसा भी है, तुम्हारा ही है और तुम्हारी ही प्रसन्नता के लिये यह तुम्हें समर्पित है।

कितनी बड़ी बात है ! सोचो। बहादुरी है कि नहीं ? यह सुख के लोभियों का काम नहीं है। यह कामनाओं से प्रेरित रहने वालों का काम नहीं है। यह संसार को जो अपनी खुराक बनाना चाहता है, उसका काम नहीं है। जो प्रेम का पुजारी है, जो उस अनन्त रस से अपने जीवन को भरपूर करना पसन्द करता है, यह उसकी बहादुरी है। वह कहता है-तुम्हीं से मेरा नित्य सम्बन्ध है, तुमसे भिन्न और किसी से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है।

तो दो ही बातों में काम हो गया। परमात्मा से भिन्न और किसी से मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है तो संसार से सम्बन्ध टूट गया। ममता, कामना, खत्म हो गई। मीराजी ने क्या कहा था ?--

'मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई'

'मेरे तो गिरधर गोपाल'- इतना कहने के लिये सब भाई-बहन बहुत राजी हैं। महाराजजी कभी-कभी कहते, "भाई, ऐसा कहने में कौन पीछे हटेगा। सामर्थ्यवान् है, अनन्त सौन्दर्यवान है, अनन्त रस का सागर है, अनन्त माधुर्यवान है। ऐसा नातेदार किसी को मिले तो कौन इन्कार करेगा ?" अरे भाई, छोटे-छोटे गुणों पर जो आप विवाह का सम्बन्ध बनाने के लिये जमीन-आसमान एक करते हैं- बड़ा अच्छा खानदान है, बड़ा अच्छा परिवार है, बड़े अच्छे लोग हैं, यह विशेषता है-छोटी-छोटी बातों पर सम्बन्ध बनाने के लिये आप इतने आतुर रहते हैं, तो जिसमें अनन्त ऐश्वर्य है अनन्त माधुर्य है, अनन्त सौन्दर्य है-उसको अपना बनाने में कौन पीछे हटेगा ? हम सभी लोग राजी हैं यह कहने के लिये, कि हे प्रभु ! तू मेरा, हे प्रभु ! मैं तेरी। तुम्हीं मेरे अपने हो और मेरी माता हो तुम्हीं, पिता हो तुम्हीं, मेरे बंधु हो तुम्हीं, सखा हो तुम्हीं-यह सब हम लोग कहने के लिये तैयार हैं, कहते ही रहते हैं। लेकिन उसमें बड़ी कठिनाई पड़ जाती है कि इस जीवन पर जो जड़ता

का प्रभाव है, शरीर और संसार के संयोगजनित सुख भोग की वासना का जो प्रभाव है, वह मीराजी की तरह हमको यह नहीं कहने देता कि- 'दूसरों न कोई'।

यह दूसरा हिस्सा जो है, यह मुझको बहुत महत्त्वपूर्ण मालूम होता है; क्योंकि जब मैंने कहा कि परमात्मा मेरा अपना है, तो इसमें मुझे कोई कठिनाई नहीं हुई। इसलिये नहीं हुई, कि उसकी तो मुझे बड़ी भारी ज़रूरत है। मृत्यु के भय से भयभीत जो है, वह अविनाशी को पसन्द कर लेता है। मीराजी ने संसार को सुना कर कह दिया-

'ऐसे वर को क्या वरूँ, जो जन्मे अरु मर जाय।
वर वरियो एक साँवरा रे, चुड़लौ अमर हो जाय।।'

जो अपनी अपूर्णता में पीड़ित है, वह सब प्रकार से पूर्ण को पसन्द कर लेता है। जो अपने भीतर प्रेम रस के अभाव में तृषित और तापित है, वह प्रेम रस के सागर को पसन्द कर लेता है। कौन बड़ी बात हो गई ? अपने में जो अभाव है उसे सब प्रकार से भरेगा, उसे तो पसन्द करेंगे ही। लेकिन, उसके साथ एक बड़ी भारी शर्त है, और वह यह है, कि जिन्होंने केवल परमात्मा को पसन्द किया, वे तो उसको प्राप्त करके कृत-कृत्य हो गये और जिन्होंने संसार की पसन्दगी को तोड़े बिना परमात्मा को अपना कहना पसन्द किया, उनके भीतर वह नित्य, निरन्तर विद्यमान है, तब भी उसकी विद्यमानता का आनन्द नहीं आया। बस इतना ही अन्तर है, और कुछ नहीं।

संसार में बहुत कम लोग हैं जो ईश्वर-विश्वास के बिना अपने को सँभाल सकें। जीवन देने वाले ने हम लोगों को स्वाधीनता दी है। उसकी दी हुई स्वाधीनता का हम लोग दुरुपयोग भी करते हैं, सदुपयोग भी करते हैं। ऐसी चर्चा चलती रहती है संसार में, कि भाई, हम तो बिना देखे, बिना जाने, परमात्मा को नहीं मानते हैं। मेरे साथ एक अंग्रेजी पढ़ाने वाली अंग्रेज महिला थीं। सोलह वर्ष उन्होंने मेरे साथ महाविद्यालय में काम किया। वह एक बार आई अपने देश से, तो कहने लगी-बहुत दुःखी हूँ। मैंने कहा, क्या बात है ? आप क्यों दुःखी हैं ?

मिसेज हैलन बर्नर्ड उनका नाम है, तो कहने लगी, देखो न, हमारे देश के जो नये लड़के हैं, नई पीढ़ी के, वे कहते हैं-भगवान का नाम क्यों लेते हो ? बिना भगवान का नाम लिये सब काम हो जाता है। एक बच्चा पैदा हुआ। उसके मुख में दाँत नहीं थे। उसने तो भगवान का नाम ही नहीं लिया - उसके मुख में दाँत निकल आये। सब काम तो बिना नाम लिये हो जाता है, तो जबरदस्ती नाम के द्वारा जीवन में हस्तक्षेप क्यों करवाते हैं ? भगवान को तुम अपने जीवन में क्यों हस्तक्षेप करने देती हो, ऐसा कहकर वह बहुत दुःखी होने लगी। कहने लगी, अब मैं तुम्हारे देश में नहीं रहूँगी। अब तो मैं जाऊँगी- अपनी नई पीढ़ी को सँभालूंगी। मैं कहूँगी कि भाई, ऐसा मत सोचो। ऐसा सोचने से बहुत गलती हो जायेगी, बहुत घाटा लग जायेगा। ऐसा वह महिला कह रही थी।

कुछ इस प्रकार की धारणायें भी बन जाती हैं कि भाई, देखा नहीं है, जानते नहीं हैं, कुछ उसके बारे में मालूम भी नहीं हैं, तो काहे को मान लें ? लेकिन माने बिना रह भी नहीं सकते। इसलिये मानना तो पड़ता ही है। जो लोग मुँह-जुबानी ऐसा कहते रहते हैं, कि परमात्मा को मानने की जरूरत नहीं है, वे भी भीतर-भीतर डरते रहते हैं कि ऐसा कहने में कोई गलती तो नहीं हो जायेगी ?

एक हमारे साथी थे। हमारे साथ के पढ़े हुए व्यक्ति; मैं राँची युनिवर्सिटी में थी और वे भागलपुर युनिवर्सिटी में थे। एक बार उनसे भेंट हो गई तो कहने लगे, मैं तो नहीं मानता हूँ। मैंने कहा, मत मानिये, कोई बात नहीं है। थोड़ी देर चुप रहकर कहते हैं- देवकी दीदी, डर भी लगता है। क्यों डर लगता है भाई ? तो कहने लगे कि भगवान निकल आएगा तो क्या करूँगा।

तो भाई, नहीं मानते हो तो मत मानो। फिर डरते क्यों हो ? कहने लगे, क्या जाने डर लगता है। ऐसा लगता है, निकल आयेगा तो क्या करेंगे। मैंने कहा, निकल आयेगा तो मान लेना, ऐसी क्या बात है।

उदाहरण रखा मैंने कि लोग केवल मुँह-जबानी चर्चा ही कभी-कभी कर सकते हैं कि हमको परमात्मा की जरूरत नहीं है, हम नहीं मानते हैं, लेकिन मैं तो कहती हूँ, मनुष्य के जीवन की रचना की योजना ही ऐसी है कि भगवान को बिना माने आपका काम भी नहीं चलता है। तब फिर कहेंगे कि इतने मानने वाले लोग हैं उनका कौनसा काम चल गया। सचमुच जिन्होंने उनको अपना माना, उनका तो सब काम चल गया।

आज भी, इस वर्तमान क्षण में भी, जो लोग सचमुच ईश्वर को मानने वाले हैं, उनका सब काम केवल इस विश्वास के आधार पर ही पूरा-का-पूरा चलता है, चल रहा है। बड़े-बड़े भक्त हो गये, बड़े-बड़े संत हो गये, जिनसे ईश्वर का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध हुआ कि उनसे बातचीत होती रही, उनसे प्रेम का आदान-प्रदान होता रहा; परस्पर एक-दूसरे को रिझाते रहे, खेलते रहे। ऐसे भक्त अभी भी धरातल पर हैं।

अब अपन लोगों का हाल देखो। अपनी दशा देखने के लिये इस तरह विचार करना पड़ेगा कि क्या मैंने सर्वसमर्थ परमात्मा को अपना नित्य सम्बन्धी माना ? ऐसा पूछो अपने से। अगर उसे ऐसे स्वीकार किया तो क्या मेरा जीवन भय और चिंता से मुक्त हो गया ? अगर नहीं हुआ है, तो मैंने ईश्वर में विश्वास किया है, ऐसा जो मेरा कथन है, इस कथन में कहीं कुछ कमी है। नहीं तो चिंता नहीं होनी चाहिये थी, भय नहीं होना चाहिये था, जीवन में अभाव नहीं रहना चाहिये था, नीरसता नहीं रहनी चाहिये थी, संसार में दृष्टि नहीं जानी चाहिये थी। कहीं कुछ कमी है।

मैं ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से ईश्वर-विश्वासी भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन करती हूँ कि भाई, अधूरा विश्वास लेकर हम लोग क्या करेंगे ? अगर मानना ही है परमात्मा को, तो पूरा क्यों न मानो, कि सब काम इसी समय पूरा हो जाए। क्या कमी रह गई ? मीराजी के समान हम लोगों ने यह कहना पसन्द किया कि 'मेरे तो गिरधर

गोपाल'। बाकी हिस्सा जो मीराजी ने ग्रहण किया था, वह भी करलो- 'दूसरो न कोई'। ईश्वर-विश्वास के अतिरिक्त अन्य विश्वास जीवन में न रखना। ईश्वर सम्बन्ध के अतिरिक्त और किसी से कोई सम्बन्ध न रखना।

आप कहेंगे, यहाँ के सम्बन्धियों का क्या करें ? तो भाई, सब परमात्मा के हैं। परमात्मा के नाते सबकी सेवा करो, सबके प्रति सद्भाव रखो। सबके साथ आदरपूर्वक, प्रेमपूर्वक रहो। ऐसा थोड़े ही है, कि जिन लोगों ने ईश्वर से सम्बन्ध माना और संसार से संबंध तोड़ा, वे लोग संसार से रूठ कर भाग गये। अरे भाई, मेरा नहीं है, परमात्मा का है-इतना ही तो परिवर्तन करना है। सच्ची बात कौनसी है ? 'मेरा' कहना सत्य है कि 'परमात्मा का' कहना सत्य है ? परमात्मा का कहना सत्य है।

अब देखिये। आपको एक मजेदार बात बताऊं। एक साधक हैं। काफी पुराने सत्संगी हैं। उनके नगर में सत्संग हुआ। वहाँ के नागरिक उन सत्संगी भाई को बहुत आदर देते हैं। उनको बहुत मानते हैं। उन्होंने घर छोड़ दिया है। वानप्रस्थ हो गये हैं। उस नगर में जब मैं पहुँची तो वे सज्जन वहीं विद्यमान थे। सत्संग का कार्यक्रम चल रहा था। उनके संगी-साथी लोगों ने मुझे कहा कि माताजी, उनके घर पर चलना पड़ेगा। मैंने कहा, उनका घर कहाँ है ? उन्होंने तो घर छोड़ दिया है। तो बोले कि 'वही पुराना घर जिसमें पहले रहा करते थे और जहाँ बैठकर हम लोगों को बीसों वर्ष सत्संग कराया है। हम लोग चाहते हैं कि उस स्थान पर आपको ले चलें।'

हम गये उनके घर। वहाँ जब जाकर मैं बैठी, तो बहुत से बच्चे, स्त्रियां, सयाने और पुरुष, सब लोग आये मिलने के लिये। दो-चार बहुत ही सत्संगी और वेदान्त के पढ़ने-सुनने और कहने वाले संगी-साथी लोग बैठे थे। एक-एक महिला, एक-एक बच्चा, एक-एक पुरुष आकर बैठ जाये सामने और उनका नाम ले-ले करके उसका परिचय कराया जाये-यह उनके भाई की स्त्री है, यह उनके भतीजे की पत्नी

है, यह उनका लड़का है। दो-चार मैंने सुना। सुन करके जो परिचय करा रहे थे समझदार लोग, उनसे मैंने कहा कि भाई-आप लोग ऐसी तकलीफ तो मत दीजिये उनको, तो देखने लगे मेरा मुँह। यह क्या बात है ?

मैंने कहा, देखिये उन्होंने मिथ्या सम्बन्ध को छोड़ दिया है। वानप्रस्थी हो गये, गृह-त्यागी हो गये। तो जिस सम्बन्ध को उन्होंने छोड़ दिया साधना के लिये, कि भाई, अनित्य सम्बन्ध खत्म करो और नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करो, अब उनको बिठा करके मिथ्या सम्बन्धों को याद क्यों दिला रहे हो ? मुझे भीतर से बड़ा अटपटा लगने लगा।

हमने कहा कि जिस गृहस्थ ने घर छोड़ दिया, वानप्रस्थ हो गया उसके लिए तो अब भगवत्नाते सभी अपने हैं। पर सुख लेने के लिये कोई अपना नहीं है। यह शरीर भी अपना नहीं है।

ज्ञान की दृष्टि से देखो, तो निज स्वरूप से भिन्न कुछ है ही नहीं। ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से नाता मानो, तो प्रभु के नाते सभी अपने हैं। हमने कहा कि आप लोग, जिस भूल को इन्होंने मिटा दिया, उसकी फिर से स्थापना क्यों कर रहे हो ? तो हँस पड़े। फिर और लोग आये तो फिर वही क्रम चलता रहा। यह इनके भतीजे का है, यह इनके भाई का है, यह इनके ताऊ का है। यह ऐसा, यह ऐसा। फिर दोहरा करके मैंने याद दिलाया और कहा कि आप सभी इन पर कृपा करो। तो हँस करके डॉक्टर साहब कहते हैं (वे डॉक्टर हैं) कि माताजी, सच्ची बात तो कहनी पड़ेगी। मुझको बड़ा धक्का लगा। मैंने कहा, देखो तो वानप्रस्थी की मान्यता स्वीकार की इस सज्जन ने, वह झूठी बात थी और भाई-भतीजे का परिवार है-यह सच्ची बात है। अगर जीवन में यह भ्रम बैठा है तो वानप्रस्थी होने से सत्य का ज्ञान कैसे होगा ? यह कितने आश्चर्य की बात है ! आप लोग सोच कर देखियेगा।

जितनी साधनायें हैं, हम लोगों ने ऊपर से पहन ली हैं या ओढ़ ली हैं। जी चाहे तो उतार कर फेंक दो। यही अर्थ हुआ न ? उन

सज्जन ने वानप्रस्थ स्वीकार कर लिया, उनका नाम बदल गया और अबकी मैं गई तो मैंने देखा कि वे संन्यासी भी हो गये हैं। ये जितनी बातें हम लोग अपने लिये धारण कर रहे हैं कोई प्रभु को अपना पिता बना रहा है, कोई माता बना रहा है, कोई पुत्र बना रहा है, कोई सखा बना रहा है, कोई कुछ बना रहा है, उनके साथ नित्य संबंध स्वीकार करके अपने और उनके बीच की जो दूरी है सो हम लोग मिटाना चाहते हैं। ईश्वर विश्वासियों की साधना की सिद्धि क्या है ? कि जिस परमात्मा को हम लोगों ने विश्वासपूर्वक माना, उस परमात्मा से मेरी भेंट, मुलाकात हो जाये, जान-पहचान हो जाये अपनापन सिद्ध हो जाये और संसार से पिंड छूट जाये। यही उद्देश्य है न।

इस उद्देश्य को लेकर आपने अनेक प्रकार का उपक्रम किया, स्वीकृतियां लीं, घर छोड़ उनके नाते को माना, दूसरे सारे नातों का त्याग किया। यह सारा कुछ करने का अर्थ क्या निकला, अगर अंत में यही कहेंगे, तो मुझको बड़ा दुःख हुआ। उस समय मैंने कुछ नहीं कहा। सोचा कि जब केवल सत्संगी लोग ही बैठे होंगे तब मैं पूछूंगी 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' का अर्थ भी होता है कुछ ? कहने के लिये तुम्हीं माता हो, तुम्हीं पिता हो और जीवन में विश्वास रखने के लिये ये हाड़-मांस के पुतले डोल रहे हैं-ये हमारे माता-पिता हैं। जब मैंने याद दिलाई तो वे सज्जन एकदम से कह उठे कि माताजी, सच्ची बात तो कहनी पड़ेगी। तो सच पूछो तो जैसे मेरे पाँव के नीचे से धरती खिसक गई। मैंने कहा- हम साधकों का अगर यह हाल रहेगा कि जो सत्य की स्वीकृति है, उसको तो कहने के लिये रहने देंगे और जो असत् की निवृत्ति की बात है उसको सत्य कह कर पकड़े ही रहो, तो अंधकार कैसे मिटेगा ?

अब देखो ! कितना समय निकल गया हमारा देखते-देखते, सुनते-सुनते। स्वामीजी महाराज के पास बैठ करके सुनती रही। इक्कीस वर्षों तक का अवसर मुझे मिला। बड़े-बड़े साधक लोग उनके पास आते, बात करते। सबकी एक ही शिकायत रहती। क्या शिकायत रहती ? कि मन को जहाँ से हटाना चाहते हैं हटता नहीं है; जहाँ

लगाना चाहते हैं, लगता नहीं है। अब यह शिकायत मिटेगी कैसे ? सत्संग के प्रकाश में उनको यह कहा गया कि भाई, इस दृश्य जगत् में कुछ भी रहने वाला नहीं है। इसलिये वस्तु, व्यक्ति जो भी तुम्हारे सामने आये; आदरपूर्वक, स्वागतपूर्वक वस्तुओं का सदुपयोग करो व्यक्तियों की सेवा में। लेकिन, चूँकि यह रहने वाला नहीं है, इसलिये इसमें से किसी को अपने जीवन का आधार मत बनाओ।

अब सुना हुआ परमात्मा देखने में क्यों नहीं आता है ? क्योंकि हमारे पास उसको देखने की आँखें नहीं हैं। ऐसा नहीं कि वह उपस्थित नहीं है। वह उपस्थित तो है, लेकिन दिखाई नहीं देता। अब क्या उपाय करें कि वह दिखाई दे ? उसके लिए परमात्मा को अपना मानो और केवल उसी को अपना मानो। बाकी सब कुछ परमात्मा का है, सृष्टि परमात्मा की है, प्राणीमात्र परमात्मा के हैं और मैं भी परमात्मा का हूँ-ऐसा मानो।

जब लोग स्वामीजी महाराज के पास आते तो कहते, कि भगवान को याद करने बैठते हैं तो दूसरी-दूसरी बातें याद आ जाती हैं। महाराज पूछते कि अच्छा, बताओ, कौन-कौनसी बातें याद आ जाती हैं, सुनाओ जरा। तो सुनाते कि किसी को कुटुम्बी याद आ जाते, किसी को घर याद आ जाता या कोई समस्या याद आ जाती। किसी को कुछ तो किसी को कुछ। तो महाराजजी कहते कि आप अपने अस्तित्व को इन्कार नहीं कर सकते और ईश्वर को इन्कार नहीं कर सकते। दोनों ही अविनाशी सत्ताएँ आप ही के जीवन में आप ही के द्वारा स्वीकार की गईं, तो यह संभव है कि दोनों का मिलन हो। मिलन का न होना असम्भव है। मिलन सम्भव है। फिर क्या हो गया ?

तो महाराजजी बता देते कि देखो भैया, सीधा हिसाब है। पहले से तुम्हारे जीवन में दस सम्बन्ध थे। मेरे कहने से तुमने एक और परमात्मा का सम्बन्ध मान लिया तो ग्यारह हो गए न ! अब दस बटा ग्यारह ; १०/११ संसार की याद आती है और एक बटा ग्यारह १/११ परमात्मा की। हिसाब बिल्कुल पक्का है तो शिकायत काहे को करते हो ?

हिसाब है भाई ! दस सम्बन्ध तुमने पहिले से दुनिया में बना रखे हैं- यह माता है, यह पिता है, यह पति है, यह पत्नी है, यह पुत्र है, यह पुत्री है, यह भाई है। ये सब सम्बन्ध संसार में पहले से जोड़ कर बैठे हो तुम। साधु संत के कहने से एक और मिला लिया उसमें। ये सब हमारे थे, एक परमात्मा भी मेरा है। तो ग्यारह सम्बन्ध जिस जीवन में हैं, तुम्हारे ही द्वारा माने गये हैं, तो दस बार याद आयेगी संसार की, और ग्यारहवाँ नम्बर परमात्मा का है। कभी-कभी जो उसकी याद आती है तुमको, तो यह बात बिल्कुल स्वाभाविक ही है। निरन्तर किसको याद आती है उसकी ? निरन्तर उसी की याद आयेगी जिसे और किसी की याद नहीं आती, जिसके लिए ''दूसरो न कोई''।

दूसरा नहीं, एक ही सम्बन्ध है। 'एक भरोसो, एक बल, एक आस-विश्वास' है उसी को दूसरी याद नहीं आती। मुझे इस बात का बहुत दुःख है कि हम लोग सब ईश्वर-विश्वासी हैं और ईश्वर-विश्वासी होने पर भी भय और चिंता से पीड़ित हैं। जिस ईश्वर-विश्वासी के हृदय में ईश्वरीय प्रेम का रस लहराना चाहिये था-उस ईश्वर-विश्वासी के हृदय में उदासी, भय आ जाये, तो दुःख की बात होगी कि नहीं ? जी ? ऐसा होना तो नहीं चाहिये।

इसलिये भाई, न मानो तो कोई चिंता की बात नहीं है। न मानो। बिना माने भी सत्य की खोज की जाती है। महाराजजी कहते, भाई देखो, हमारा सिद्धान्त तो ऐसा है कि ईश्वर को मानकर चलने वाले को भी ईश्वर मिलता है, और ईश्वर को न मानकर सत्य की खोज करने वाले को भी ईश्वर मिलता है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त में तो यह है कि ईश्वरवादी को भी ईश्वर मिलता है और अनीश्वरवादी को भी ईश्वर मिलता है। क्यों ? क्योंकि प्राप्तव्य जो है, वह एक ही तत्त्व है।

ज्ञान कहकर विचार करो, चाहे प्रेमस्वरूप कहकर प्यार करो, चाहे परम तत्त्व, चाहे ब्रह्म मानकर विचार करो, प्राप्तव्य जो है वह तो एक है और वही प्राप्त होगा। उसका नाम ईश्वर है, तो डर की, चिंता

की कोई बात ही नहीं है कि आप क्या हैं और क्या नहीं हैं। न मानोगे तो कोई बात नहीं। जानने की चेष्टा करिये। खोजिये। अगर मानते हैं, तो मानने का इतना अर्थ अवश्य होना चाहिये कि हम लोगों के जीवन में निश्चिंतता आ जाये। अनाथपन सदा के लिये मिट जाये। संसार का महत्त्व जीवन में से निकल जाये। उस विश्वव्यापी, उस सर्वव्यापी, उस अन्तरवासी परमात्मा की उपस्थिति का आनन्द हम लोगों को आ जाये। इतना हम सब भाई-बहनों को अवश्य करना चाहिये।

इस सम्बन्ध में संसार के साथ क्या करें ? यह बात हो चुकी। परमात्मा के साथ क्या करें - इस प्रश्न के उत्तर में अभी से जहाँ पर हम लोग हैं, जैसी हमारी स्थिति है, इसी वर्तमान दशा में हम क्या करें, कि जिस परमात्मा से अभी दूरी अनुभव हो रही है, उस दूरी का नाश हो जाये ?-इस विषय पर और चर्चा होती रहेगी।

सत्संग का समय अब पूरा होने वाला है-थोड़ा समय रह गया है। अब थोड़ी देर के लिये हम लोग बिल्कुल शांत रहेंगे।

(51)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव जीवन का उच्चतम विकास है, प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति। अभी हम सन्त वाणी में इसी तत्त्व के सम्बन्ध में चर्चा सुन रहे थे। यहाँ जितने भाई-बहन सत्संग के लिए उपस्थित हुए हैं सभी के जीवन में शान्ति, स्वाधीनता और सरसता की माँग है।

हम सभी को परमशान्ति चाहिए। हम सभी को जन्म-मरण की बाध्यता से मुक्त जीवन चाहिये। वह जो अमर जीवन होगा, अविनाशी जीवन होगा, उसमें अनन्तरस की अभिव्यक्ति चाहिये-ऐसी आवश्यकता मानव जीवन की होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए हम सभी क्रियाशक्ति, विचारशक्ति और भावशक्ति-तीनों प्रकार की शक्तियों को

साधन रूप बनाने के लिये विचार कर रहे हैं।

क्रियाशक्ति जो मिली है उसको हम साधन रूप में बदलें। कैसे? कि जो कुछ करना है इस दृष्टि से करना है कि करने के बदले में न करने का जीवन हमें मिल जाये। बिना कुछ किये हम आराम से रह सकें। विचार शक्ति का सदुपयोग क्या है ? कि जीवन की घटनाओं का अध्ययन करने के बाद अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग कर सकें।

जिन्होंने क्रियाशक्ति का सदुपयोग किया, वे सेवापरायण हो गये, कर्त्तव्यनिष्ठ हो गये और उनके प्राप्त बल का सदुपयोग हो गया। जिन्होंने विचार शक्ति का उपयोग किया, वे जानी हुई भूल को करेंगे नहीं, की हुई भूल को दुहरायेंगे नहीं। इस व्रत के धारण करने से उनका जीवन निर्मल हो जायेगा। दोष रहित हो जायेगा।

उसी प्रकार भावशक्ति के सदुपयोग का भी प्रश्न हम लोगों के सामने आता है। मनुष्य के व्यक्तित्व का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, बड़ा ही सरस और आवश्यक अंग है-भाव शक्ति। श्रद्धा, विश्वास, स्नेह, प्रेम का भाव, निकटवर्ती जनसमुदाय के प्रति सहानुभूति, सहयोग, उदारता- ये सब मनुष्य जीवन की शोभा के रूप में हम लोग पाते हैं। जब तक मानव के जीवन में भाव पक्ष प्रबल रहता है तब तक उसके व्यक्तित्व पर उसका बड़ा भारी प्रभाव होता है, सरसता बनी रहती है, उसके व्यक्तित्व का संगठन बना रहता है। भाव, विचार और कर्म में एकता रहती है। प्रेमपूर्ण व्यवहार करता है, विचारपूर्वक कर्म करता है और परिणामस्वरूप कर्म के क्षेत्र से अलग होने पर अपने आप में शान्तिपूर्वक रह सकता है। संसार में शरीरों को लेकर शारीरिक, आर्थिक, बौद्धिक योग्यता इत्यादि को लेकर हम विचारपूर्वक कर्म करें और प्रेम के भाव से भरे हुए कर्म करें। भाव से पूरित जो कर्म होते हैं वे पवित्र होते हैं। विचार से प्रकाशित जो कर्म होते हैं, वे भी पवित्र होते हैं। वे ममता और कामना के दोष से रहित होते हैं। क्रियाशक्ति का पूरा सदुपयोग कर लीजिये। भाव शक्ति का पूरा सदुपयोग कर लीजिये। स्वभाव से जो

शक्तियाँ अपने को मिली हुई हैं, उन्हीं के सदुपयोग से चिरशान्ति, परमस्वाधीनता, परमप्रेम की अभिव्यक्ति हो जाती है।

बड़ा सुन्दर चित्र देखने को मिलता है-एक ही व्यक्ति है, उसी का अहंरूपी अणु है। उसने अपने को सुख का भोगी स्वीकार किया है तो सुख भोगने के लिये वह विविध प्रकार के कार्यों में लगा रहता है। अनेक प्रयासों में लगा रहता है। सुख भोग का विधान ऐसा है कि जो किसी प्रकार का सुख लेना पसन्द करेगा उसको दुःख में फँसना पड़ेगा।

जहाँ भी कहीं सृष्टि के किसी भी अंश का सुखद सम्पर्क अपने को पसन्द आ गया कि उस परिवर्तनशील नाशवान् परिस्थिति का एक प्रभाव अपने में अंकित हो जाता है। जो नाशवान् है, उसका तो नाश हो जायेगा। जो परिवर्तनशील है, वह परिवर्तित हो जायेगा। देखते-देखते उसका अभाव हो जायेगा। आधा घंटा पहले जो था, अब नहीं है। दो मिनिट पहले जो था, अब नहीं है। तो परिस्थिति बदल गयी। सुख भोगने की सामर्थ्य घट गयी। हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ शिथिल हो गयीं और हममें उस दृश्य का, उस वस्तु का, उस व्यक्ति का आकर्षण बना रह गया। इस प्रकार व्यक्ति अभाव में आबद्ध हो जाता है।

मनुष्य बीते हुए सुखों को वर्तमान में याद कर-कर के इतना दुःखी हो जाता है कि उसके लिए जो अमर जीवन का मार्ग खुला है, उसका भी वह कुछ उपयोग नहीं कर सकता। संतजन हम लोगों को सलाह देते हैं कि देखो, तुम ही हो। जब तुमने अपने को सुख का भोगी बनाया तो संसार तुमको बड़ा आकर्षक दिखाई देता है। जहाँ देखो वहीं सुख भोगने की वस्तुएँ दिखाई देती हैं। उनके पीछे दौड़-दौड़ कर तुम अपने जीवन के अलौकिक तत्त्वों की ओर से विमुख हो जाते हो, वंचित हो जाते हो। मिल गया सुख तो जड़ता में डूब गये। नहीं मिला सुख तो क्रोध और क्षोभ में डूब गये। बड़ी दुर्दशा हो गई। अब जीना चाहते हैं तो जी नहीं सकते।

शरीर में बड़ा भंयकर कष्ट हो रहा है। मरना चाहते हैं तो मर नहीं सकते। खाना चाहते हैं तो पचा नहीं सकते। चलना चाहते हैं तो पाँव साथ नहीं देते। बोलना चाहते हैं तो गले से ध्वनि नहीं निकलती। यह दशा हो गयी। बड़ी दयनीय दशा हो गयी। फिर भी मनुष्य, मनुष्य है। कितनी भी भूल कर डाले और कैसी भी दयनीय दशा उसकी हो गयी हो, उसके भीतर जो ज्ञान के प्रकाश और प्रेम के तत्त्व के रूप में अलौकिक तत्त्व विद्यमान हैं उनका नाश नहीं होता। उसमें चेतना आ जाती है। वह कहने लगता है कि संसार के सम्पर्क से मैंने अपनी दुर्दशा कर ली। अब मुझे यह नहीं चाहिये।

उसके भीतर सजगता आ जाती है। यह वही मनुष्य है जिसने अपने को सुख का भोगी कहा और दुःख में फँस गया। वही मनुष्य है जिसने सुख-भोग की प्रवृत्तियों का त्याग किया तो परमशान्ति में स्थित हो गया। थोड़ी देर पहले जो कहता था कि मैं बहुत थका हूँ, मैं बहुत दुःखी हूँ, त्याग के व्रत को अपनाते ही नाशवान् संसार के पीछे मुझे नहीं दौड़ना है, किसी भी सुख-प्रवृत्ति में अपने को शामिल नहीं करना है, केवल इस निर्णय से ही उनके मस्तिष्क का असन्तुलन समाप्त हो जाता है। मस्तिष्क का तनाव खत्म हो जाता है। संकल्प रहित होते ही व्यक्तित्व का सामान्य संतुलन सुरक्षित हो जाता है। उसी में जीवन भीतर ही भीतर से अच्छा-अच्छा लगने लगता है। निज विवेक के प्रकाश में नाशवान और परिवर्तनशील की ओर से अपने को अलग करते ही उसी व्यक्ति में चिरशान्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है।

उस शान्ति में अगर वह रहना पंसद कर ले तो क्रमशः शान्त होते-होते तीनों शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य आ जाती है और ऐसा सम्बन्ध टूटता है, ऐसा टूटता है, जैसे कभी था ही नहीं। सुख भोग की वासनाओं से भरी हुई दृष्टि थी तो संसार बड़ा आकर्षक दिख रहा था। इस वासना के त्याग के बाद अब विवेक की दृष्टि है तो सारा संसार काल की अग्नि में जलता हुआ दिखने लगता है। शान्ति गहन होने पर शरीरों से तादात्म्य टूटने पर दृष्टि से संग छूटा नहीं कि सृष्टि लुप्त हो गयी। तो न काल है, न स्थान है, न सीमा है, न शरीर है, न

अपने को किसी प्रकार की पराधीनता महसूस होती है, न बेबसी है, न अभाव है। इतनी जल्दी यह बदलता है।

मैंने अनुभवी संतों की वाणी सुनी। स्वामीजी महाराज ने कहा, कि भाई, अविनाशी, स्वाधीन, परमप्रेम से परिपूर्ण जीवन की माँग अति तीव्र हो जाये तो माँग की तीव्रता में ही माँग की पूर्ति निहित है। दूसरे संतों की वाणी में मैंने सुना कि फूल के तोड़ने में देर लगती है, मृत्युञ्जय होने में देर नहीं लगती है, जन्म-मरण के पार पहुँचने में देर नहीं लगती है।

एक दिन की बात है। स्वामीजी महाराज गंगा में स्नान करके अपने आनन्द में बैठे थे। सब समय वह अपनी मस्ती में रहा करते थे। शरीर और संसार से सम्पर्क उनका तब जुड़ता था जब हम लोग उनको घेरकर उनसे कुछ बात करना चाहते, कुछ काम लेना चाहते, कुछ दुःख सुनाना चाहते। नहीं तो वे कहाँ रहते हैं, हम लोगों को पता ही नहीं चलता था। बिल्कुल प्रस्तर की मूर्ति की तरह आराम से रहते, उनका शरीर जहाँ का तहाँ शान्त दिखाई देता था।

महाराज अपने पार पहुँच जाते। कहाँ रहते ? क्या रहस्य था ? मालूम नहीं। एक दिन मैं सवेरे-सवेरे उनके पास गई। रोज दस मिनिट का समय मिलता था मुझे अपनी साधना के लिये कुछ बात करने को। प्रश्न लिख कर ले जाती थी, सुना देती। जो उत्तर देते महाराज, मैं लिखकर चली आती।

उस दिन गई तो पता नहीं उनके आस-पास में इतनी शान्ति, इतना आनन्द छाया हुआ था, मुखमण्डल उनका ऐसे आनन्द से देदीप्यमान हो रहा था कि मैं चुपचाप खड़ी की खड़ी रह गयी पीठ की तरफ, सामने भी नहीं गई। बड़ा आनन्द आ रहा था उस दर्शन में, समय बीत रहा था। घड़ी देख रही थी कि आज तो स्वामीजी महाराज का ध्यान ही नहीं टूट रहा है। अब तो हमारा समय निकल जायेगा। अब कैसे होगा ?

एकदम सावधान होकर और यों चुटकी बजाकर कहने लगे कि

अरे लाली ! तुम लोग कहाँ बुद्धि की सीमा में चक्कर काटते रहते हो? अरे भाई ! यों चुटकियों में स्वाधीन हुआ जाता है, चुटकियों में। अब हम क्या जानें ? हम तो उस समय तक देह के सुख-दुःख में इतने उलझे हुए थे कि स्वाधीन आदमी कैसा होता है, हमको क्या पता। मैं चुपचाप सुनती रही। उसके बाद और अधिक आनन्दित होकर कहते हैं कि क्या देवकीजी ! तुम बुद्धिमान लोग बुद्धि की सीमा में चक्कर काटते रहते हो ? अरे लाली ! मैं तो एक छलांग में बुद्धि के पार चला जाता था। तो बड़ा अच्छा लगा मुझे। बुद्धि के पार ! बुद्धि क्या है ? सूक्ष्म शरीर का व्यापार है।

जिन्होंने शरीरों की सहायता से किसी भी प्रकार का सुख लेना पंसद नहीं किया, उनके लिए बहुत आसान होता है कि स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर-तीनों के पार पहुँच जाये। पहुँच जाया करते थे महाराज। उनको कोई दिक्कत ही नहीं होती थी। यदि दृष्टियों के पार पहुँच जाओ, तीनों शरीरों के पार पहुँच जाओ तो न वहाँ शरीर है न वहाँ दृष्टि है। दृष्टि नहीं है तो सृष्टि भी नहीं है।

इतना साफ है और इस प्रकार से बेदाग आदमी बिल्कुल स्वाधीन होता है। शरीर की आसक्ति में फँसा हुआ व्यक्ति तो उसकी कल्पना ही नहीं कर सकता। सोच ही नहीं सकता। लेकिन है यह सत्य। उससे पहले किसी को स्वाधीनता मिल जाये यह सम्भव नहीं। नगर में रहना छोड़ कर निर्जन में रहना आरम्भ करो तो निर्जन भी संसार का ही एक रूप है। शरीर का जो सम्बन्ध संसार से है वह नहीं टूटेगा। महल से निकल कर गंगा तट पर बैठा दिया गया तो काम हो गया-सो बात नहीं है। महल में से निकाल कर फूस की कुटिया में बैठा दिया तो त्याग हो गया-सो बात नहीं.....शरीर तो संसार में ही रहेगा। चाहे जहाँ ले जाओ। संसार की धातुओं से बनी हुई यह आकृति हमेशा ही संसार में है।

अणु-परमाणुओं के गठन से एक आकृति बन जाती है। अणु-परमाणुओं के विघटन से वह आकृति बिखर जाती है। जिन स्थूल और

सूक्ष्म अणु-परमाणुओं के संगठन से यह दिखाई देने वाली आकृति बन गयी, वे संसार के ही अणु-परमाणु हैं। वे संसार के पार नहीं जा सकते। इसलिये शरीर तो कहीं नहीं जायेगा। किसी भी हालत में रखो। किसी भी स्थान में रखो। किसी भी समय में रखो। शरीर भौतिक सीमा के भीतर ही रहेगा। लेकिन आपके लिये यह सम्भव है कि शरीर के रहते-रहते बची हुई प्राणशक्ति से आप तीनों शरीरों से असंग होकर अपने अमरदेव के आनन्द में निवास कर सकें। यह आपके लिए सम्भव है। कौतुहलवश भी आप इस सत्य का प्रयोग आरम्भ करें तो शरीर के नाश होने से पहले अविनाशी जीवन के आनन्द को आप अपने में, अनुभव करके सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो सकते हैं। ऐसे सन्तजन हुए हैं, अभी भी हैं, पहले भी हुए, आगे भी होते रहेंगे।

मनुष्य के व्यक्तित्व में जो प्रेमतत्त्व है वह उसका भावपक्ष है। उसका विशुद्धरूप, नित-नवरस प्रदान करने वाला है, उसके लिये आज जो हम भाई-बहन यहाँ बैठे हैं, वे क्या करें। प्रेम का मिठास आप सभी भाई-बहिनों के जीवन में है। किसी को प्रेम से अपने पास रखना भी अच्छा लगता है। किसी के साथ प्रेमपूर्वक बैठकर खाना भी अच्छा लगता है। किसी से द्वेषपूर्वक अलग होना भी जरूरी मालूम होता है। तो क्या हो गया, कि अविनाशी तत्त्व जो प्रेम के रूप में आपके व्यक्तित्व में विद्यमान है वह सुखभोग की तृष्णा से दूषित हो गया। उसमें आसक्ति आ गयी। प्रेम जब आसक्ति का रूप ले लेता है, जब हमारी ही भूलों से सुखभोग की तृष्णा के ताप से जलकर जीवन का रस-स्रोत सूख जाता है, तो व्यक्ति को बाहर से अपने लिये वस्तुओं और व्यक्तियों की आवश्यकता अनुभव होती है। भीतर के जीवन का वह जो अनमोल, अलौकिक तत्त्व प्रेमरस है, जिसका शरीरों के नाश होने से भी नाश नहीं होता, उस अनुपम अलौकिक तत्त्व को देकर जीवनदाता ने हम लोगों को बनाया है। हमने सुखभोग की वासनाओं को उसमें मिश्रित कर लिया तो हम भोग की प्रवृत्तियों में प्रविष्ट होते हैं और नाम लेते हैं प्रेम का। इसका बड़ा ही बुरा फल होता है। जब हम प्रेम को आसक्ति के रूप में बदल देते हैं, दूषित और विकृत कर देते हैं, तो देखे हुए

संसार के व्यक्तियों और वस्तुओं की पराधीनता में फँस जाते हैं। हमारे भीतर प्रेम तत्त्व का नाश नहीं हुआ है। हमारी भूल से वह दूषित हो गया है, विकृत हो गया है। अब क्या करें ? उसमें से दूषण निकाल दो। विकृति निकाल दो। वह शुद्धरूप जब हो जाएगा तो वह स्वयं आपको स्वाधीन कर देगा।

जब हृदय में प्रेम-रस का अभाव होता है, तो बाहर से हम वस्तुओं के प्रति आकर्षित होते हैं, व्यक्तियों के प्रति आकर्षित होते हैं। जिन पर अपना कोई वश न चले उनके पीछे दौड़ना-यह प्रेमियों का लक्षण नहीं है। कभी-कभी मैं अपने साथ के लोगों को ऐसा कहती कि देखो भाई, सुखभोग की तृष्णा से प्रेम का रस सूख गया। शीतलता की जगह पर, उसमें तपन पैदा हो गयी। जीवन का तत्त्व तुम्हारे भीतर था। उसको विकृत कर देने से तुम अभाव से पीड़ित हो गये। अब बाहर-बाहर दौड़ रहे हो। कौन मुझसे मीठा बोले ? कौन मेरा आदर करे ? कौन मेरी भूख मिटाए ? कौन मुझको सम्मान दे ? तुम सोचकर देखो तो सही। जैसे तुम भूखे-प्यासे हो, ऐसे अनेक मूर्तियाँ तुम्हारी तरह भूखी-प्यासी फिर रही हैं।

कोई व्यक्ति पूर्ण पुरुष बनकर तुम्हारे सामने आया क्या, जो तुम्हारे अभाव को मिटा देगा। तुम भी अभावग्रस्त हो और दूसरा भी अभावग्रस्त है। अब एक भिखारी दूसरे भिखारी के आगे झोली फैलाए, तो झोली भरेगी क्या ? नहीं भरेगी। यह दशा होती है। और होना क्या चाहिये ? कि प्रेम तत्त्व की अलौकिकता को दृष्टि में रखो, वह तुम्हारे ही व्यक्तित्व में 'अगर' अभिव्यक्त हो गया तो सबसे पहला लक्षण यह होगा कि तुम अपने आप में कृत-कृत्य हो जाओगे। अपनी सन्तुष्टि के लिए अन्य की आवश्यकता नहीं रहेगी। ज्ञान के प्रकाश में जिन्होंने शरीरों से तादात्म्य तोड़ लिया वे अपने ही आप में इतने संतुष्ट हो जाते हैं कि शरीर की आवश्यकता नहीं रहती है। अपने लिए नहीं रहती है। सेवा के लिये विचरते हैं। उसी तरह से प्रेमीजन, जिनके हृदय में प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति हो गयी और उस रस से उनका रोम-रोम आप्लावित हो गया, वे अपने आप में इतने मस्त हो जाते हैं कि

उनको अपने से भिन्न की आवश्यकता ही नहीं रहती।

पहिचानना क्या है प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति को ? जिस हृदय में यह प्रेमतत्त्व अभिव्यक्त होता है उस व्यक्ति को सबसे पहले सबसे स्वाधीन बना देता है। अपने में स्वाधीनता आ जाये, तो समझना चाहिये कि अलौकिक तत्त्व की अभिव्यक्ति हो गयी। किसी भी प्रकार की पराधीनता दिखाई दे, तो सोच लो कुछ और रूप लेना होगा। उसका वह रूप विशुद्ध प्रेम का तो हो नहीं सकता। महाराजजी कहते हैं कि देखो भाई ! जिस हृदय में प्रेमतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है वह स्वयं अपने आप में सरस हो जाता है।

उस हृदय में कोई ममता का दोष नहीं है। कोई कामना का दोष नहीं है। प्रेमी कौन होता है ? जिसे कुछ नहीं चाहिये। पहली शर्त है प्रेमी होने की। एक सज्जन आये और उन्होंने कहा कि मैं भगवान से मिलना चाहता हूँ। उनको मैंने ये दो चार उपाय बताये। वे जाते समय कहकर गये कि अभी नहीं मिलूँगा भगवान से, कुछ दिनों बाद मिलूँगा।

प्रेम अनुपम तत्त्व है। जिनको मिल गया वे सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य हो गये। लेकिन अभिव्यक्ति का जो मूल्य है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये जो पहली शर्त है उस पर हम लोगों को ध्यान देना चाहिये। पहली शर्त यह है कि जिसके व्यक्तित्व में किसी प्रकार की कामना शेष रहेगी, किसी प्रकार की ममता का दोष रहेगा, उसमें पवित्र प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं होगी।

प्रेमियों के जीवन की कथा कैसी होती है ? वह यह होती है कि उनको अपने लिये कुछ नहीं चाहिये। जो इतने स्वाधीन होते हैं, जो सब प्रकार की ममता और कामना से मुक्त होते हैं। उनके हृदय में प्रेमरस की धारा प्रवाहित होती है जो जन्म-जन्मान्तर के सब ताप को शीतल कर देती है। जिनका रोम-रोम उस रस से पुलकित होता रहता है।

फिर ऐसा मनुष्य जिसने भगवद् भक्ति के लिये, अनन्त परमात्मा के प्रेमी होने के लिये जगत् की कामनाओं का त्याग कर दिया वही

बहादुरी की उसने। देखे हुये संसार को इन्कार कर देना और बिना देखे, बिना जाने, प्रेमस्वरूप परमात्मा का प्रेमी हो जाना-मानव जीवन की सबसे बड़ी बहादुरी है। इस बहादुरी पर वे प्रेमस्वरूप परमात्मा अपने को न्यौछावर कर देते हैं।

संत कबीर आनन्द में मस्त होकर कहते हैं, "मन ऐसा निर्मल भया जैसा गंगा नीर।" ममता और कामना चली गयी तो निर्मल हो गया। "मन ऐसा निर्मल भया जैसा गंगा नीर, पीछे-पीछे हरि फिरे, कहत कबीर-कबीर।" परमात्मा उस प्रेमी के पीछे-पीछे फिर रहे हैं।

क्यों ? क्योंकि उसने सुख का भोग और सुखभोग के त्याग का आनन्द-सब परम प्रेम के लिये न्यौछावर कर दिया। मेरा कुछ नहीं है; मुझे कुछ नहीं चाहिये-इस शर्त को जिन प्रेमियों ने पूरा किया, उनके हृदय में प्रेम तत्व पवित्र हो गया। आप देखेंगे कि पवित्र प्रेम का ग्राहक भी परम स्वाधीन है।

महाराजजी जब मानव जीवन की महिमा बताते हुए आनन्द में आ जाते, तो कहते कि देखो भाई, सारी सृष्टि में प्रेम का दान केवल तुम्हीं कर सकते हो और कोई नहीं कर सकता। पशु-पक्षी के जीवन में देहजनित सुख के भोग का त्याग करने की कोई सामर्थ्य नहीं है। यह मनुष्य ही है जो दिखाई देने वाले जगत् की ओर से आँखें बन्द कर लेता है और कहता है नहीं-नहीं यह संसार का सुखद रूप मुझे नहीं चाहिये। और जो बिना देखे परमात्मा को कह देता है- हे प्यारे ! यह सम्पूर्ण जीवन तुम्हें समर्पित है, तुम चाहे जैसे करो। जिस प्रकार से तुमको प्रसन्नता मिले, इस जीवन का उपयोग करो। तुम्हारी प्रसन्नता मुझको अभीष्ट है, मनुष्य की इस बहादुरी पर परमात्मा रीझ जाते हैं।

महाराजजी कहते हैं कि देखो भाई ! इस सृष्टि में प्रेम का दान करने की सामर्थ्य केवल तुम्हारे में है और तुम्हारे हृदय के पवित्र-प्रेम का पान करने की सामर्थ्य केवल परमात्मा में है और किसी में नहीं है। कामनाओं से, वासनाओं से भरा हुआ मनुष्य, तुम्हारे हृदय के पवित्र प्रेम का पान कर ही नहीं सकता। वह तो तुम्हारे पास आयेगा तो मीठी

वाणी के साथ तुम्हारी कुछ सामग्री भी माँगेगा। वह तो तुम्हारे पास आयेगा तो प्रेमपूर्ण व्यवहार से तुम जितना देना चाहोगे उससे कुछ ज्यादा ही वह खींच लेना चाहेगा। अगर वह तुम्हारे पास आयेगा और तुम्हारा एक संकल्प पूरा करेगा तो उसके बदले में वह अपने दस संकल्प तुम से पूरे करवाना चाहेगा। जो भूखा-प्यासा दरिद्र फिर रहा है, वासनाओं से, कामनाओं से जला हुआ दुनिया में घूम रहा है, वह तुम्हारे प्रेम का आदर नहीं कर सकेगा, उसमें यह सामर्थ्य कहाँ है ?

मानव हृदय के प्रेम का आदर तो अकेला वह पूर्ण परमात्मा ही कर सकता है, जिसको कि प्रेम के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिए। यह बात समझ में आती है ? बहुत नाते-रिश्ते बनाये आपने, एक से अनेक किया अपने को; परन्तु एक भी कुटुम्बी, सम्बन्धी, रिश्तेदार ऐसा नहीं मिला होगा जो केवल प्रेम से प्रसन्न हो जाये।

प्रेम से बात करोगे, उसके बाद उसको मीठा ठंडा जल भी चाहिये, बैठने के लिये आसन भी चाहिये। भोजन का समय हो जाये, तो खाने को भी चाहिये। मन बहलाने को भी चाहिये। सोने को भी चाहिये। पता नहीं क्या-क्या चाहिये ? वह अपने घर में कितनी भी तकलीफ में रहता होगा, तुम्हारे पास आये तो तुम्हारी ही हैसियत का सब सामान उसको चाहियेगा। उसमें अगर किसी प्रकार की कमी हो गयी तो नाराज हो कर चला जायेगा। मनुष्य की बड़ी भारी अज्ञानता है कि अपनी भूखी-प्यासी जिन्दगी को लेकर ऐसे ही कामनाओं, वासनाओं से तृषित व्यक्तियों से सम्बन्ध जोड़कर अपने को आनन्दित करना चाहता है और कहता है कि हम प्रेमीजन हैं। यह भूल है। ऐसा विलक्षण, ऐसा अलौकिक अभिव्यक्त तत्त्व जो मानव के व्यक्तित्व में विकसित होकर उसके जन्म-जन्मान्तर के सब दुःखों का अन्त कर देता है उसको स्वयं अपने आप में ऐसा भरपूर कर देता है कि उसमें किसी प्रकार की पराधीनता शेष नहीं रहती और ऐसा स्वाधीन जीवन लेकर भक्तजन प्यारे को समर्पित करते हैं और कहते हैं, हे प्यारे ! यह जीवन, यह जीवनरूपी पुष्प तुम्हारे चरणों पर अर्पित है। इसे तुम्हें जैसे प्रसन्नता हो वैसे ही रखो। भक्तिमती मीराजी आनन्द में आकर कहती

हैं, "जित बैठावे तितही बैठूँ, बेचे तो बिक जाऊँ" उनका अपना कोई संकल्प नहीं रह गया।

अब अपनी कोई आवश्यकता शेष नहीं रह गयी। अपने भीतर कोई कामना शेष नहीं रह गयी। "जित बैठावे तित ही बैठूँ, जो दे सो खाऊँ, जा रंग राचे आप साँवरिया ताही में रंग जाऊँ।" उसी में उसको आनन्द आता है। ऐसा जो वीर पुरुष है, ऐसा जो वीर भक्त है, जो अपने लिये कुछ न चाहे, कुछ न माँगे, अपने पर अपना अधिकार न रखे, उस प्रेमास्पद को प्रेमरस प्रदान करने के लिये ही जीता रहे-ऐसे भक्त पर भगवान प्रसन्न होकर अपनी कृपा की अमृत वर्षा कर देते हैं। प्रेम के रस से उसको आप्लावित कर देते हैं। जैसे-जैसे उस रस की वृद्धि होती है, उसको संसार की विस्मृति होती जाती है। मैंने यह देखा है। अनुभवी सन्त की वाणी में सुना है। उच्चकोटि के भक्तजनों के पास बैठकर देखा है। जैसे उन्होंने जीवन के क्रम को बताया कि भाई, दूषण को मिटाओ। बुराइयों को छोड़ो। निर्मम, निष्काम होने का पुरुषार्थ करो। वैसे-वैसे करते जाने से प्रेमरस की वृद्धि होती जाती है। निर्भयता आती है, निश्चिन्तता आती है। शरीर और संसार का महत्त्व खत्म हो जाता है। अपने में ही विद्यमान वह जीवन तत्त्व अपनी विभूतियों को प्रकाशित करता चला जाता है। आप लोगों में से विश्वासपथ के साधकों को, बहुत से भाई-बहनों को यह लगता होगा। ऐसा सोचते होंगे कि मैंने भगवान की भक्ति की है, उनका प्रेमी होना स्वीकार किया है तो जब वे दर्शन देंगे तो हम समझेंगे कि हमारी भक्ति सिद्ध हो गयी।

नहीं, ऐसी बात नहीं है। स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई, वह दर्शन दे कि न दे, यह तो उनकी मर्जी पर छोड़ दो। वह भक्त क्या जो भगवान को बाध्य करे कि तुमको दर्शन देने के लिये आना पड़ेगा ? वह भी प्रेमी है, जो अपना संकल्प रखे, कि ऐसी-ऐसी मुद्रा में, कि मुरलीमनोहर बनके, कि धनुषधारी बनके, कि चार भुजा वाले, कि अष्ट भुजा वाले, कि सहस्रभुजा वाले बनकर मेरे सामने खड़े हो जाओ। उसका नाम प्रेमी नहीं है जो अपना संकल्प अपने प्रेमास्पद पर लादे।

अपनी मस्ती में जब वे आ जाते, अपने प्यारे से गपशप करते तो खूब ताली बजाते। कहते कि जाओ यार, तुम भी क्या कहोगे। तुम भी आजाद रहो, मैं भी आजाद हूँ। जो भक्तजन होते हैं वे भगवान से अपने किसी संकल्प की पूर्ति की बात कहते नहीं हैं कि तुम ऐसा करो। वे कहते हैं तुमको जिसमें आनन्द आये सो करो। एक बार एक ब्रजवासी रसिक व्यक्ति ने विचरण करते हुए ब्रज में स्वामीजी महाराज से पूछ लिया कि बाबाजी, लाला-लाली के प्रति आपके भाव क्या हैं ? स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया ! मैं तो उनका फुटबॉल हूँ। लाला-लाली का फुटबॉल हूँ। उनके खेलने का खिलौना हूँ मैं।

फुटबॉल का अपना कोई संकल्प नहीं। लाला फैंकते हैं लाली की ओर, लाली फेंकती है लाला की ओर। जिधर ठुकरा देते हैं प्यारे-प्यारी, उधर मैं चला जाता हूँ। मुझे इसी में बड़ा आनन्द है। दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। दोनों को मुझे ठुकराने में आनन्द आता है। मैं तो दोनों को रिझाने का खिलौना हूँ भैया। मैं और कुछ नहीं जानता। संतजन तो चाहते हैं कि ईश्वर में विश्वास करने वाले भाई-बहन जो हैं वे शरीर के नाश होने से पहले, ईश्वर के प्रेम से परिपूर्ण हो जायें। ईश्वर के मिलन का उनको आनन्द आ जाये। उस आनन्द में वे मस्त हो जायें। फिर शरीर का नाश कहीं भी होता रहे। उनको उसका कुछ आभास भी न मिले-ऐसा वे चाहते हैं।

'पाथेय' नाम का जो संकलन है वह महाराजजी के मुझे लिखे गये पत्रों का है। उसमें साधन के क्रम के हिसाब से आप देखेंगे कि जैसे-जैसे साधक की प्रगति होती जाती है साधना में, वैसे-वैसे स्वामीजी महाराज का सम्बोधन बदलता जाता है। आखिर के पत्रों में, उन्होंने जगह-जगह, मुझको सम्बोधित किया-'मेरे प्राण प्यारे की प्यारी मुरलिया।' वे चाहते थे कि मैं भगवान की बंसी बन जाऊँ। कैसे ? अहं-शून्य होकर। कभी-कभी पूछते कि देवकीजी, तुमने देखी है, बाँस की बाँसुरी ? हाँ महाराज देखी है। तो लाली। उसके भीतर की सब गाँठें कटी हुई होती हैं कि कोई-कोई ऊपर उठी हुई होती हैं ? महाराज सब कटी हुई होती हैं। सब गाँठें कट जाती हैं तब उसमें से बढ़िया स्वर

निकलता है। हाँ, महाराजजी ! ऐसे ही होता है। तो लाली देखो ! अपने को भीतर से खाली कर दो। अहं-शून्य हो जाओ। अपना संकल्प रखकर, कोई अहं-शून्य हो सकता है क्या ? जी नहीं, सुखभोग के संकल्पों को तो पशु श्रेणी के लिये ही छोड़ दो। मानव का जीवन आरम्भ होता है उसके बाद।

सुख भोगने के फेर में जो पड़ा रहा है उसकी तो मानव संज्ञा आरम्भ ही नहीं हुई। वह तो प्राणी की संज्ञा है। वह तो पशु की संज्ञा है। वह बहुत नीचे स्तर की बात है। उसको तो बहुत नीचे छोड़ दो। उसको तो पाँव के नीचे दबाकर उसके ऊपर खड़े हो जाओ। किसलिये ? ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित होने के लिये। प्रेम के रस से, परम मधुरता से, परम अनन्त माधुर्य से भरपूर होने के लिये। उसको तो छोड़ दो नीचे। जो तुम्हारा शुद्ध रूप है अपने में, वह मालूम होने लगेगा। मैं परम शान्त हूँ, मैं परम स्वाधीन हूँ। मैं परम-प्रेमास्पद, प्रेम-स्वरूप प्रभु का प्रेमी हूँ। यह भी जो तुमको मालूम हो रहा है कि 'मैं प्रेमी हूँ', इस 'हूँ-पन' को भी उस अनन्त में समाहित करना है। इसलिये मुरली के समान भीतर से खोखले हो जाओ। खाली हो जाओ। अहं-शून्य हो जाओ।

मेरा कुछ नहीं है। मुझे कुछ नहीं चाहिये। जरा-सा साहस और करो-मैं कुछ नहीं हूँ। जहाँ तुमने अपने को सूना किया कि अनन्त की अनन्त मधुरता स्वर लहरी बनकर तुम्हारे व्यक्तित्व के माध्यम से तपते हुये संसार में प्रेम-रस की वर्षा करने लग जायेगी। ऐसा व्यक्तित्व हम सब भाई-बहिनों का हो सकता है कि आपकी प्रीतभरी दृष्टि किसी दुःखी प्राणी पर पड़ जाये तो उसके दुःख का नाश हो जाये। आपकी प्रीतभरी दृष्टि किसी तृषित व्यक्ति पर पड़ जाये, तो उसकी तृष्णा शान्त हो जाये। आपकी प्रीतभरी दृष्टि किसी दुःखी पर पड़ जाये, तो उसके हृदय को सान्त्वना मिल जाये। ऐसा व्यक्तित्व आपका हो सकता है। ऐसे सन्तजन आज भी समाज में उपस्थित हैं, जिनके पास जाने लगो तो जैसे-जैसे निकट जाओ, तुम्हारे भीतर का भय मिटता जाता है, दुःख मिटता जाता है, तृष्णा मिटती जाती है, प्रश्न खत्म हो जाते

हैं और उनके निकट जाकर बैठते ही ऐसा अनुभव होता है कि जैसे प्रेम सरिता में किसी ने डालकर मुझको भर दिया हो। होता है ऐसा ! सम्भव है ऐसा ! ! होना चाहिये ऐसा ! ! ! हम सब भाई-बहन इसकी पात्रता की तैयारी करें।

इतना भर पुरुषार्थ अपने लोगों को करना है और बाकी सब-कुछ उस मंगलमय विधान से स्वतः ही होता है। आज जो साधक बनकर बैठा है कल वह परम-प्रेम से परिपूर्ण होकर, रसमय होकर इस धरती पर विचरण करे, ऐसा संकल्प उस सत्य संकल्प प्रभु का भी है और हमारा भी है। दोनों का एक सम्बन्ध हो गया तो काम बन गया। अब शान्त हो जाइये।

(52)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

वस्तु का आकर्षण धरती की ओर होता है। आपने देखा होगा कि वृक्ष में फल जब पक जाता है, तो धरती पर गिरता है। वस्तु, वस्तु की ओर खिंचती है। धरती की आकर्षण शक्ति वस्तुओं को अपनी ओर खींचती है। इसका अर्थ क्या है ? कि सभी वस्तुएँ भौतिक तत्त्वों की रची हुई हैं। सजातीयता के कारण धरती का आकर्षण वस्तुओं पर प्रभावकारी होता है। स्वामीजी महाराज ने एक सूत्र लिखा। उसमें उन्होंने यह लिखा कि "वस्तु खिंचती है धरती की ओर, और 'मैं' खिंचता है दिव्य, चिन्मय, रसरूप, अनन्त तत्त्व की ओर।" बहुत बढ़िया बात है। सोचने-समझने लायक है। वस्तुओं की सजातीयता धरती के साथ है। भौतिक अणु-परमाणुओं से बनी वस्तुएँ सहज ही धरती की ओर आकर्षित होती हैं।

'मैं' तत्त्व जो बना है, जिसको हम लोग अहंरूपी अणु भी कहते हैं, वह भौतिक तत्त्वों का रचा हुआ नहीं है। वह अलौकिक तत्त्वों से रचा हुआ है। इसलिये उसका सहज आकर्षण उस ओर होता है जो

दिव्य, चिन्मय, रसरूप है, जो अविनाशी है, जो ज्ञानस्वरूप है, उसकी ओर 'मैं' का आकर्षण होता है, और उसी से इस 'मैं' की सजातीयता है। उसी आकर्षण में स्वाभाविकता है। उसी से 'मैं' का नित्य योग होता है।

अब अपनी दशा देखें हम लोग। कितनी बड़ी भूल है कि बड़ी बुद्धिमानी के साथ हम लोग यह कहने लग जाते हैं कि क्या बतायें, संसार का सुहावना, लुभावना रूप इतना बढ़िया है, इतना सुखद है कि मेरा सहज आकर्षण उसकी ओर हो जाता है। कई साधक भाई-बहन ऐसे हैं, जो अपनी तकलीफ बताते हैं, तो यह कहते हैं कि सत्संग सुनकर, सद्ग्रन्थों को पढ़कर तो सही बात कुछ और मालूम होती है, परन्तु संसार का सुखस्वरूप इतना आकर्षक है कि मुझसे छोड़ा नहीं जाता। मालूम है कि शरीर सदा के लिये नहीं रहेगा, मालूम है कि जो दृश्य आज बहुत प्रिय लग रहे हैं, आगे रहेंगे नहीं-इस बात को जानते हुए भी, संसार की ओर से मन हटता नहीं है। यह अपनी वर्तमान दशा है। मनोवैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर यह जाना गया है कि मनुष्य जो स्वयं अपने आप में अलौकिक शक्ति भी रखता है, वह यदि अपने ही द्वारा किसी गलत बात को स्वीकार कर ले तो उसकी स्वीकृति के फलस्वरूप उसके जीवन में से वह भ्रम कभी निकलेगा नहीं। अपने ही द्वारा हम लोगों ने मान लिया है कि धरती की ओर, संसार की ओर, मेरा बड़ा भारी आकर्षण है। बात तो यह सच नहीं है। आप बनाये गये हैं अविनाशी तत्त्व से। आपकी रचना में अलौकिक जीवन की माँग है। आपका सहज आकर्षण उस अविनाशी तत्त्व की ओर है। लेकिन भ्रमवश जब शरीरों के साथ हम अपने को मिला लेते हैं तो वस्तु के साथ मिला लेने पर वस्तु के समान अपनी वृत्ति बन जाती है। मालूम होता है कि संसार की ओर बड़ा खिंचाव है।

अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा को बहुत ही स्वस्थ और सत्य पर आधारित बनानी चाहिये, यह निवेदन कर रही हूँ मैं। या तो आप इस सत्य को अस्वीकार करिये, जिसको कि स्वामीजी महाराज ने अपने अनुभव के आधार पर स्थापित किया और यदि अस्वीकार नहीं कर

सकते, कि मेरा सहज आकर्षण उस दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व की ओर है, तो इस बात को आप स्वीकार करेंगे। तो इधर का लगाव सहज से छूट सकेगा।

मान लो कि आप घूमने के लिये निकले हैं। एक सुन्दर-सा फूल खिला हुआ देखकर आपका खिंचाव उसकी ओर हुआ। आपने दृश्य में सत्यता, सुखरूपता स्वीकार की, इसलिये खिंचाव उस ओर हुआ। परन्तु उस पुष्प की सुगन्ध का प्रभाव, उस पुष्प के कोमल-कोमल स्पर्श का प्रभाव, उसके सुन्दर रंग का प्रभाव कहाँ तक रहेगा ? केवल स्थूल और सूक्ष्म शरीर की सीमा तक। उसके आगे नहीं जायेगा। फिर अब आप अपने से पूछिये, कि इस आकर्षण के आधार पर अगर तुम किसी प्रवृत्ति में प्रवृत्त हो जाओ, तो वह क्या सदा के लिये संतोष देने वाली होगी ? नहीं होगी। उस पुष्प को तोड़कर हाथ में ले लीजिये। जहाँ से उसकी खुराक मिल रही थी, उससे उसे अलग कर लिया तो कितनी देर वह आपके हाथ में सुन्दर रह पायेगा ? उसकी सुन्दरता की सीमा और भी छोटी हो गयी।

अगर उस पुष्प को आप अपने श्रृंगार की सामग्री बनालें, तो कितनी देर तक टिकेगा ? बहुत थोड़ी देर के लिये। अगर संसार के दृश्यों पर दृष्टि जाती है और आपको लगता है कि इस ओर मेरा आकर्षण हो रहा है तो उस पर विचार करिये। उसी जगह बैठ जाइये, उस दृश्य के सामने और अपने सम्बन्ध में सोचिये, कि क्या बात है ? स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक सच्ची घटना है। उनको बहुत ही सुगन्धित पके हुए लाल सेब खाने का बड़ा शौक था। जब अपनी भूल मिटाने का प्रश्न उनके सामने आया, जब नाशवान् दृश्य से सम्बन्ध तोड़ने का प्रश्न आया तो वे बाजार से बहुत अच्छे-अच्छे सेब पसन्द कर खरीद लाते और अपने कमरे में study table पर रख देते और उनको देखते रहते। दो दिन बीते, चार दिन बीते, दस दिन बीते ! फिर क्या हुआ ? उनका लाल-लाल रंग उड़ गया। छिलका धीरे-धीरे सिकुड़ गया। गुद्दी सूख गयी, सड़ गयी, उसमें से दुर्गन्ध आने लगी। सत्य के स्वरूप का दर्शन करके, सेबों को उठाकर फेंक दिया। यह

किसका काम है ! यह एक मानव का काम है। अपन लोगों की जो वर्तमान दशा है, उस दशा को सामने रखकर उसके ऊपर उठने का प्रयास करती हूँ। जिससे कोई भाई, कोई बहन यह न कहे कि उनके तो संस्कार बड़े अच्छे रहे होंगे। बहाने बनाकर अपने को बचा न लिया जाये, इसलिये मैं नीचे के स्तर से कहानी शुरू करती हूँ।

कोई भाई, कोई बहन कह सकती है कि क्या करें, हमारा बड़ा आकर्षण होता है। सच्ची बात तो यह है कि नाशवान् का आकर्षण नाशवान् को ही खींच सकता है। अविनाशी को कैसे पकड़ लेगा ? अविनाशी को कैसे खींच लेगा ? ऐसा नहीं हो सकता। यही कारण है कि 'अहं' का विश्लेषण मानव सेवा संघ की पद्धति से करते हुए स्वामीजी महाराज ने बताया कि मनुष्य के 'मैं' की रचना ऐसी विलक्षण है कि मनुष्य जब अपने को नाशवान् के साथ मिला देता है, परिवर्तनशील के साथ मिला देता है तो उसी के सब लक्षण उस पर लागू हो जाते हैं। वही मनुष्य जब अपने को अविनाशीस्वरूप से मिलाता है, अविनाशी परमात्मा से मिलाता है, तो वह उनकी विभूतियों में समाहित होकर उनके समान हो जाता है। एक ही यह 'मैं' है जिसमें जगत् के प्रति आकर्षण भी रहता है और जिसमें सत्य की जिज्ञासा और परम-प्रेम की प्यास भी रहती है और दोनों ही बातें आप अपने में देख रहे हैं।

शरीर को लेकर, जब हम भौतिक दृश्यों की ओर आकर्षित होते हैं, तो इस बात को बहुत स्पष्ट रूप से जानना चाहिये कि अगर किसी वस्तु के प्रति खिंचाव होता हो, तो शरमाइये मत। अपने को बुरा मत समझिये। उस आकर्षण को दबा करके, छिपा करके, दूसरों के सामने त्यागी, वैरागी बने रहने की चेष्टा मत कीजिये। जो चीज आपको खींच रही है, उसके पास जा करके बैठ जाओ स्वामी रामतीर्थजी की तरह। उसके नाशवान् और परिवर्तनशील स्वरूप का अच्छी तरह से दर्शन कर लो। उसका परिणाम यह निकलेगा कि शरीरों से अपने को मिला लेने के फलस्वरूप यह आकर्षण उत्पन्न हुआ था। उसके परिणाम को विवेक के प्रकाश में देख लेने के बाद वह आर्कषण खत्म हो जायेगा। नहीं रहेगा। जो मिथ्या है वह मिट जाता है, जो सत्य है वह रह जाता

है। यह प्रारम्भिक बात हो गई।

अब आगे चलो। क्योंकि अपने को जीवन की पूर्णता तक का प्रोग्राम रखना है तो जल्दी-जल्दी करना है। शरीर के नाश होने से पहले वह सारी तैयारी पूरी हो ही जानी चाहिये, जिससे कि नाशवान के साथ जो भूल के कारण मेरा लगाव बन गया था, वह टूट जाये और जिस अविनाशी स्वरूप से हम लोग रचे गये हैं उसके तीव्र आकर्षण के प्रवाह में अवगाहन कर उससे अभिन्न हो जायें। यहाँ तक का सब रहस्य अपने को अपने सामने रखना है।

बड़ी ही स्वाभाविक बात है कि सुखद घड़ियों में, भोग प्रवृत्तियों में प्रवृत्त होते रहने पर भी, अनेक प्रकार के सुखद साथियों के बीच में रहने पर भी मनुष्य का अपना जो अनुभव है वह यह है कि संसार के सम्पर्क से मिलने वाला ऊँचे से ऊँचा सुख आदमी को भीतर से संतुष्ट नहीं कर पाता। प्रभु के मंगलमय विधान से, जीवन के मंगलमय विधान से हम लोगो ने सुख की घड़ियाँ देखी हैं। अनेकों प्रकार के सुख अनेकों भाई-बहनों के सामने आये और गये। अब उन बीते हुए सुखों का प्रभाव देख लो अपने पर। क्या अनेकों बार सुखद प्रवृत्तियों में प्रवृत्त हो करके भी हम लोग सुख के लालच से मुक्त हो गये ? यदि मुक्त नहीं हुए और लालच रह गया तो क्या हुआ ? बड़ी भारी आपत्ति में फँस गये। किस आपत्ति में ? कि अब सुख भोगने की शक्ति घट गयी। भोगने की इच्छा रह गयी। इच्छा रह जाये और परिस्थिति चली जाये, इच्छा रह जाये और भोगने की शक्ति घट जाये, तो कितनी दयनीय, दर्दनाक दशा है। कोई भी प्रतिष्ठित मनुष्य इस दशा को पसन्द करता है ? नहीं पसन्द करता। बहुत बुरा लगता है। इसका अर्थ क्या है ?

सत्संगी भाई-बहनों को, सजग व्यक्तियों को बहुत स्पष्ट रूप से अपनी इस दशा का अध्ययन करके यह मान लेना चाहिये कि मेरा व्यक्तित्व है वह सुखभोग की प्रवृत्ति से संतुष्ट होने वाला नहीं है। संतुष्ट क्यों नहीं हुआ भाई ? भरा क्यों नहीं ? इसलिये कि आप स्वयं, जिसको 'मैं' कह कर सम्बोधित करते हैं, वह अहंरूपी अणु भौतिक

तत्त्वों से बना ही नहीं है। अलौकिक तत्त्वों से बना हुआ है। वह जो बिना देखा, बिना जाना, दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व है, वह अस्तित्व निरन्तर हम लोगों को अपनी ओर खींच रहा है।

अब हम लोग अपनी बहुत ही सामान्य बुद्धि से शरीरों के साथ तादात्म्य जोड़कर धरती पर बैठे हैं अलौकिक प्यास से तृषित होकर अलौकिक जीवन की चर्चा करने। यह हम लोगों की वर्तमान दशा है। यहीं से आप सोच कर देखिये कि समग्र उत्पत्ति के मूल में जो अनुत्पन्न अविनाशी तत्त्व है उसकी विद्यमानता इसी क्षण में हम लोग स्वीकार कर रहे हैं या नहीं ? अगर वह न होता तो उत्पत्ति का क्रम चल सकता था ? नहीं चल सकता था। उत्पत्ति-विनाश का एक क्रम चल सकता था ? नहीं चल सकता था। उत्पत्ति-विनाश का एक क्रम चल रहा है। बन-बन कर, तैयार हो-हो कर आकृतियाँ मिटती जा रही हैं। यह जो एक अनवरत क्रिया चल रही है, क्रम चल रहा है, किसी न किसी एक उद्‌गम से ही सम्बन्धित है। भौतिक तत्त्वों में से ही उत्पत्ति सबकी हो रही है और उन्हीं में विलय सबका हो रहा है। इस दृष्टि से आप देखें तो आपको इस बात को मानना ही चाहिये कि दिव्य, चिन्मय रसरूप अस्तित्त्व, जिसकी चर्चा हम लोग कर रहे हैं, जिसकी आवश्यकता हम सभी अनुभव कर रहे हैं, वह इसी क्षण में हमारे भीतर-बाहर सर्वत्र विद्यमान है। भक्त बन करके उसको भगवान कह दो; ज्ञानपंथ के साधक बन करके नित्य तत्त्व कह दो, निजस्वरूप कह दो, ब्रह्म कह दो; योग पंथ के साधक होकर परम तत्त्व कह दो। जो भाषा अच्छी लगे सो कहो। लेकिन है वह दिव्य, चिन्मय और रसरूप। ये तीनों विशेषण बड़े काम के हैं। इसलिये तीनों विशेषण मैं याद रखती हूँ। स्वामीजी महाराज ने भी इनको खूब प्रयोग में लिया है।

वह जो दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व है, वह समर्थ भी है, सर्वत्र भी है। जीवन स्वरूप भी है, प्रेमस्वरूप भी है। उसी की आकर्षण शक्ति हम सभी भाई-बहनों को जाने-अनजाने में, हर रूप में, सुख में, दुःख में, हर दशा में अपनी ओर खींचती रहती है। तरह-तरह के पत्र मेरे पास आते हैं। कुछ साधक ऐसे हैं, जिनकी परिस्थिति सुखमय है।

जब उनको सुख मालूम होता है, तो घबरा करके मुझे पत्र लिखते हैं। कहते हैं, दीदी सब प्रकार की अनुकूलता की घड़ियाँ कट रही हैं, बड़ा डर लग रहा है, मैं नित्य से दूर न हो जाऊँ। अब बताइये, इसका मैं क्या उत्तर दूँ? दुःख में आदमी घबरा कर लिखता है, तो कहते हैं भाई, धीरज रखो। दुःखहारी हरि को याद करो। उनका आश्रय लो। सुख की आशा छोड़ दो। बहुत-सी बातें मेरे पास कहने की हैं। अब सुख की घड़ी में, चारों ओर तुमको आराम मिलने लगता है तो घबड़ा करके लम्बा-लम्बा पत्र लिखते हैं और कहते हैं चारों ओर से सुख बरस रहा है। मुझे बड़ा डर लग रहा है कि मैं सत्य से विमुख न हो जाऊँ।

अगर आप कहेंगे कि मनुष्य का सहज आकर्षण सुख में है तो सुख की घड़ी में उसे परमात्मा के उस सत्य की याद किसने दिलाई? सुख की घड़ी में चारों ओर, सुखद सामग्रियों से भरे होने पर भी उसकी ओर मुझको उसी ने खींचा। दुःख में तो आदमी सहज ही उसे याद करता ही है। दुःख की घड़ी में जब शरीर और संसार के साथ मिलकर के अपने को आराम नहीं लगता है, चैन नहीं मिलता है, तो घबड़ा करके सब उसको याद करते ही हैं।

मैंने ऐसे-ऐसे साधकों को देखा है। उनके पास व स्वामीजी महाराज के साथ भी रही हूँ। जब मैं किन्हीं की दुःख की कथायें सुनाती तो वे सज्जन सुख की कथायें सुनाते। कहते कि महाराजजी, जब से जन्मा हूँ तब से ऐसी परिस्थिति में पला हूँ कि मुझको किसी प्रकार की कठिनाई सामने अभी तक तो नहीं मिली। अब सत्संग के प्रकाश में मुझे सूझ रहा है कि सुख काल में भी सुख का भ्रम ही था। वह जो दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व है, उसके आकर्षण का प्रभाव आपके व्यक्तित्व को उस ओर खींचता है। आज की इस बैठक में, मैं अपने आत्मीय भाई-बहिनों को यह विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि आप इस बात को भूल जाइये कि संसार आपको आकर्षित कर रहा है। आप इस बात को याद रखिये कि वह अनन्त परमात्मा आपको आकर्षित कर रहा है। वही आपको अपनी ओर खींच रहा है।

भक्त होने के नाते उसे भगवान कह देना। विचारक होने के नाते दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व कह देना। जो पसन्द आये सो कह देना। लेकिन उसी का आकर्षण हम सब भाई-बहनों को उस ओर खींच रहा है। स्वीकार कर रहे हैं ? इस स्वीकृति से आपका बड़ा उपकार होगा। क्या उपकार होगा ? कि एक बड़ी भारी भूल जीवन में हम लोग रख लेते हैं। कहते हैं कि भाई, परमार्थ के पथ पर चलना बड़ा कठिन है। तो तुम सोचो, कि नाशवान् शरीर के साथ जुटकर के नाशवान् धरती की ओर हमारा जो क्षणिक आकर्षण है यह अधिक जोरदार है, कि दिव्य, चिन्मय, रसरूप अस्तित्व का अविनाशी आकर्षण ज्यादा जोरदार होगा। वही ज्यादा जोरदार है न ? मानते नहीं, अपने को भ्रम में डाल देते हैं। अगर आप स्वीकार कर लेंगे कि मैं दुर्बल हूँ तो दुर्बलता आपके सिर पर सवार हो जाएगी। आप स्वीकार कर लेंगे कि मैं अविनाशी तत्त्व का बना हुआ हूँ, मुझमें अविनाशी की माँग है और मेरा जो यह स्वयं का अस्तित्व है, यह उस दिव्य, चिन्मय, रसरूप के अस्तित्व से आकर्षित है। यह तो स्वभाव से ही उस ओर जाने वाला है। यह तो स्वभाव से ही उस ओर खिंच रहा है। रास्ते में देर क्यों लग रही है ? देर इसलिये लग रही है, कि क्षण भर के सुखद आभास के लालच में अनन्त आनन्द पर परदा डालकर हम बैठ जाते हैं। इस भूल को मिटा दीजिये। अपने द्वारा अपने को सुख भोग का लालची स्वीकार ही मत कीजिये।

प्रातःकाल सोकर उठें, तो याद करलें एकबार कि भाई, संसार में जो आकर्षण शक्ति है वह वस्तुओं को अपनी ओर खींच सकती है, मुझको तो वह अनन्त अविनाशी अस्तित्व आकर्षित कर रहा है। अब हम तो इसकी ओर नहीं देखेंगे। उसकी ओर आगे बढ़ेंगे। आपने देखा होगा कि दुर्बल से दुर्बल, साधक, असमर्थ से असमर्थ, जो पढ़ा-लिखा भी नहीं है और जिसमें शारीरिक बल भी नहीं है, जिसका कोई संगी-साथी सहायक भी नहीं है, उसके भीतर भी जो अलौकिक माँग विद्यमान है, उसके आधार पर वह निर्बलताओं से मुक्त होना चाहता है, तो हो जाएगा; उसकी आवश्यकता अनुभव करता है, तो आवश्यकता

की पूर्ति हो जाएगी। वह निर्विकार, निर्मम, निष्काम होना चाहता है तो ये सारी बातें उसके भीतर आ जाती हैं। वह प्रभु के शरणागत होकर, उनकी कृपा का आश्रय लेकर उनके प्रेम का पात्र बनना चाहता है, तो बन जाता है। ऐसा होता है।

एक बार एक साधक स्वामीजी महाराज को मिले। उनके दोनों हाथ, दोनों पाँव कटे हुए थे। बड़ी प्रसन्न मुद्रा थी। स्वामीजी महाराज उन दिनों में अकेले चम्बल नदी के किनारे पहाड़ की गुफा में रहा करते थे। कुछ लोग उन साधक को पीठ पर लाद करके गुफा पर ले गये। पत्थरों का बना पहाड़ वह नहीं है। इटावा जिले में चम्बल नदी के किनारे मिट्टी का पहाड़ है। वहाँ सीढ़ियाँ भी नहीं बन सकतीं। मिट्टी काट कर लोग कुछ सहारा ले लेते हैं। रोज बनती रहती हैं, टूटती रहती हैं, ऊपर चढ़ना बड़ा मुश्किल है। लेकिन कुछ लोग ले गये उनको पीठ पर लाद करके स्वामीजी महाराज के पास। वे बड़ी प्रसन्न मुद्रा में थे। ले जाकर के वहाँ बिठा दिया, उनके पास। महाराजजी से बातचीत होने लगी। बड़े आनन्दित थे वह सज्जन। दोनों हाथ, दोनों पाँव कटे हुए थे। संग में कोई साथी नहीं और पैसा पास रखने का तो कोई प्रश्न ही नहीं। हाथ ही नहीं तो रखेंगे कैसे ? कुछ नहीं था उनके पास। बड़े आनन्द में मस्त थे। स्वामीजी महाराज ने पूछा कि भैया, तुम आये कैसे ? तो हँस के कहते हैं कि आपके पास पहुँच गया। जैसे लोगों ने वहाँ से उठाकर यहाँ पहुँचा दिया, ऐसे ही लोग उठाकर एक जगह से दूसरी जगह रख देते हैं। ऐसा क्यों करते हो ? यात्रा क्यों कर रहे हो ? तो कहने लगे, मेरे गुरु महाराज ने कहा था, चारों धाम घूम आना। और सब यात्रा हो गई, बद्रिकाश्रम बाकी है। मैं ट्रेन से जा रहा था। आपके भक्त लोगों ने कहा मुझसे, कि चलो एक भगवत् अनुरागी संत से मिला दें। महाराज आपका दर्शन करने आ गया।

खूब आनन्द में आनन्दित थे। कोई दुःख नहीं, अभाव नहीं, पराधीनता नहीं, शारीरिक असमर्थता का कोई प्रभाव नहीं, ऐसा होता है, हो सकता है। तो मैं केवल इतनी-सी बात, पत्र-पुष्प के रूप में श्रोता भाई-बहनों की सेवा में अर्पित करना चाहती हूँ, कि कभी इस बात को

भूल कर भी स्वीकार मत करो कि संसार का आकर्षण तुम्हें पकड़ लेता है। अगर अब तक यह आकर्षण तुम्हारे सिर पर चढ़ा रहा, तो केवल इस भूल से, कि तुमने उसको अपने पर चढ़ने दिया। नहीं तो नहीं रहता। अनन्त जीवन का जो स्रोत है, अनन्त माधुर्य का बहुत ही मीठा आकर्षण जिसमें है, उस आकर्षण से आकर्षित होकर के भी थोड़ी-थोड़ी देर के लिये उधर से मुँह फेर करके संसार की ओर भटकते रहे हो। यह भी इसी कारण से, कि हमने मान लिया कि भगवत् प्राप्ति बड़ी दूर की बात है, कि जीवन मुक्ति बड़ी दूर की बात है, परमशान्ति बड़ी दूर की बात है, नित्य योग बड़ा कठिन है। कठिन कैसे हो सकता है ? जिससे तुम्हारी सजातीयता है, जिससे बिछुड़ जाने के कारण से अनेकों बार शरीर धारण करके देहजनित सुख-दुःख का भोग करते हुए आज तक पल भर के लिये कहीं विश्राम नहीं मिला, तो उससे मिलना कठिन कैसे हो जायेगा ? जिससे तुम्हारी सजातीयता है उससे अभिन्न होना कठिन कैसे हो जायेगा ? जो अपने अनन्त माधुर्य से हमारा, आपका सबका प्राणिमात्र का भरण-पोषण, पालन, सम्भाल कर रहा है उसके पास पहुँचना कठिन कैसे हो जायेगा ?

जो नित्य, निरन्तर अपने ही में विद्यमान है। उससे मिलना कठिन कैसे हो जायेगा ? या तो यह कहिये कि यह सब बातें आप नहीं मानते हैं। हिम्मत है कहने की ? नहीं कह सकते। जो खिंचाव मालूम होता है, वह भूल का परिणाम है। उसमें आपको संतोष नहीं मिला और उसकी ओर दौड़-दौड़ करके अपना जो जीवन का मूल सत्य है उससे हम विमुख होकर अनेक प्रकार के दुःख भोग रहे हैं। उनकी ओर से आकर्षण है, उनकी ओर से याद दिलाया जाता है। संत के पास पहुँच करके मुझे जब इस बात का पता चला, तो कहीं-कहीं किसी-किसी लेख में लिखा भी है मैंने, और सत्संगी भाई-बहनों के बीच में तो बहुत बार निवेदन किया कि मैं तो समझती थी कि केवल जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति के लिये ही साधक होना जरूरी है।

ऐसा मानकर मैं सन्त के पास बैठी थी। लेकिन उनके बताये हुए मार्ग पर चलने का थोड़ा-सा प्रयास किया मैंने, पूरा-पूरा हो नहीं सका

मुझसे। लेकिन थोड़ा-सा जो प्रयास किया, तो उसी में मुझे अपने लिए बहुत ही स्पष्ट अनुभव हुआ कि कहाँ तो सुख-दुःख की लहरियों में डूबने-उतराने वाला एक व्यक्तित्व और कहाँ उस अनन्त परमात्मा की अनन्त कृपालुता ! तो मैं कहने लग गयी, लिखने लग गयी। महाराजजी, मैं अपनी दुर्दशा से मुक्त होने के लिए जितनी व्याकुलता अपने में नहीं पाती हूँ उससे अधिक तत्परता उस परम कृपालु में है, हमको सुधारने की। यह मैंने अनुभव किया। जड़ता के साथ अपने को जड़ बनाकर हाड़-मांस के बने हुए शरीर के साथ अपने को मिलाकर अनेक प्रकार के दुःख, अनेक जन्मों से भोगते हुए भी अपने उद्धार के लिये उतने व्याकुल हम नहीं हैं जितना हमारे उद्धार का ख्याल उस परम कृपालु में है-ऐसा मैंने अनुभव किया। उसके आधार पर मैंने पाया कि केवल जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति का मार्ग खुला हो, ऐसा नहीं है। यह सुख-दुःख के उलझन में पड़े हुए साधक को जब आराम मिलता है, विश्राम मिलता है, प्रकाश दिखाई देता है, चलने का मार्ग मिलता है, अपने से अधिक अपना हितैषी, जब सब प्रकार से सहारा देने लगता है, तब इस प्रकार की बातें स्वतः ही अपने भीतर से उपजने लगती हैं। ऐसा अनुभव अनेकों भाई-बहनों को होगा। ऐसा आप पसन्द करेंगे तो जिनको अब तक नहीं हुआ होगा उनको भी आगे होने लगेगा। अब समय पूरा हो गया। थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाइये।

(53)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

जीवन की पूर्णता प्रेम तत्त्व की अभिव्यक्ति में है - यह हम सभी साधक भाई-बहनों को जीवन के लक्ष्य के रूप में सामने रखना है। आरम्भ कहाँ से किया था ? आरंभ किया था यहाँ से, कि जैसे ही अपन लोगों को पता चलता है कि मैं मनुष्य हूँ, मन की और तन की बहुत-सी इच्छायें और आवश्यकताएँ खड़ी होती हैं। हमारी दृष्टि आराम पर नहीं रह करके आराम देने वाली वस्तुओं पर टिक जाती हैं। अब

चाहिये भूख मिटाने के लिये, वस्त्र चाहिये शरीर को ढकने के लिये। शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति में उसी समय उत्पन्न हुआ असंतुलन और तनाव खत्म होगा तो विश्राम मिलेगा, इस बात को हम भूल जाते हैं।

तो किसलिये अन्न का संग्रह करें ? किसलिये वस्त्र का संग्रह करें ? किसलिये धन का संग्रह करें ? दृष्टि में से यह बात निकल ही जाती है कि अपने को आराम मिलना चाहिये। जो खास बात है वह दृष्टि में से हट गई, और आराम के लिये संग्रह की मनोवृत्ति बढ़ गई। अन्न का संग्रह, वस्त्र का संग्रह और धन का संग्रह-यह मनुष्य को कभी भी आराम से रहने नहीं देता है। थोड़ा-सा इस पर ध्यान दिया जाये तो यह बहुत ही सामान्य वैज्ञानिक स्तर की बात है। अलौकिक जीवन की बात नहीं है।

शरीर और मन के साथ तादात्म्य रखते हुए हम लोग समाज में रहते हैं, परिवार में रहते हैं और संसार से संपर्क बनाकर जीवन-यापन करते हैं, उसके विषय में आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता यह कहते हैं कि मनुष्य के जीवन में स्वभाव से तो शान्ति रहती है। जब उसके भीतर कोई नया संकल्प उठ खड़ा होता है तो उस संकल्प की उत्पत्ति मात्र से मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। मन में एक प्रकार का तनाव पैदा हो जाता है। मनुष्य अपने भीतर बेचैनी अनुभव करने लगता है और संकल्प पूर्ति के सुख से प्रेरित होकर दौड़-धूप में, प्रयास में लग जाता है। ऐसा करेंगे तो यह वस्तु मिल जायेगी, वहाँ जायेंगे तो यह काम बन जायेगा। इस तरह मनुष्य अस्त-व्यस्त हो गया, शांति से हट गया और गतिशीलता में, क्रिया में, व्यस्तता में फँस गया।

विधि का विधान बड़ा विचित्र है। जिन-जिन संकल्पों की पूर्ति का लालच लेकर हम जगत् में प्रवृत्त होते हैं, तन से, मन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से, हाथ-पाँव से, सामान से, व्यक्तियों से, सबसे सम्पर्क जोड़ते हैं, उन सब संकल्पों की पूर्ति होती नहीं है। कभी-कभी पूर्ति हो भी जाती है। संकल्प की पूर्ति हो गई तो थोड़ी देर के लिये सुख मालूम

होता है और संकल्पों की पूर्ति नहीं हुई तो थोड़ी देर के लिये बड़ा दुःख मालूम होता है। ऐसा आपने भी अनुभव किया होगा। यह एक दशा है। यह जीवन का सत्य नहीं है।

जिन वस्तुओं की सहायता से, जिन व्यक्तियों की सहायता से संकल्प पूरे हो जाते हैं, उन व्यक्तियों के प्रति एक राग बन जाता है। यह तो बड़ा अच्छा आदमी है, इसने मेरा यह काम निकाल दिया। जिन वस्तुओं से संकल्प पूरे हो जाते हैं, उन वस्तुओं के प्रति एक आसक्ति बन जाती है, एक ममता बन जाती है कि यह वस्तु तो ऐसे समय पर खूब काम आई मेरे। अब यह मेरे ही पास रहे तो बहुत अच्छी बात है।

वस्तुओं के प्रति लोभ और व्यक्तियों के प्रति राग क्यों पैदा हुआ ? क्योंकि मैंने संकल्प-पूर्ति के सुख को पसन्द किया। उस सुख के लालच में पड़ कर मैंने शरीर और संसार से सम्बन्ध बनाया। अगर मेरी इच्छा पूरी हो गई तो परिणाम में मुझे क्या मिला ? वस्तु का लोभ और व्यक्ति का राग। और उसका परिणाम क्या हो गया ? शान्ति से दूर हो गये।

यह सोचकर आदमी चलता है कि यह मिल जाए तो बड़ा आराम रहेगा। लेकिन वस्तुओं के पीछे, व्यक्तियों के पीछे और परिस्थितियों के पीछे दौड़ने में व्यक्ति आराम से बहुत दूर हो जाता है। प्रयास सफल हो भी गया; दौड़-धूप, चेष्टा करने से कोई पद मिल भी गया तो वस्तुओं के प्रति लोभ और व्यक्तियों के प्रति राग अपने में उपज जायेगा। लोभ तथा राग जब तक अपने भीतर रहेगा, आराम का तो कभी दर्शन होगा ही नहीं।

शरीर के सम्बन्ध से मेरे पिताजी से बचपन में मैं सुना करती थी- "आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास।" क्या करने आये थे और क्या करने लग गए। अरे भाई ! इस दुनिया में दौड़-धूप तुमने आरंभ की थी आराम के लिये और सारी चेष्टाओं का परिणाम क्या निकला ? राग और लोभ रूपी विकारों की उत्पत्ति और भीतर की नीरसता।

मनुष्य को संकल्प की पूर्ति से, इच्छा की पूर्ति से अपने भीतर

बड़ा सुख मालूम होता है। मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि जिससे उसे सुख मालूम होता है उस वस्तु को मनुष्य पकड़ लेता है। यह वस्तु बड़ी सुखद है, यह स्थान बड़ा सुखद है, यह व्यक्ति बड़ा सुखद है। बाहर-बाहर की वस्तु, व्यक्ति आदि को वह पकड़ लेता है।

लेकिन सच्ची बात क्या है ? कि जब तुम्हारे भीतर कोई इच्छा पैदा नहीं हुई थी, तो स्वभाव से तुम्हारे अन्दर शान्ति थी। संकल्प के उठने से, इच्छाओं के पैदा होने से तुम्हारी वह स्वाभाविक शान्ति बिखर गई, मस्तिष्क का संतुलन बिगड़ गया। एक तनाव पैदा हो गया। इच्छा की पूर्ति से वह तनाव थोड़ी देर के लिये ढीला हो गया। सुख जो तुमको मालूम हुआ, वह बाहर की वस्तु के कारण नहीं हुआ। भीतर उत्पन्न हुए संकल्प की पूर्ति के आधार पर थोड़ी देर के लिये मस्तिष्क का तनाव चला गया। मस्तिष्क में तनाव पैदा होने से हम बहुत गतिशील हो गये थे। मस्तिष्क का तनाव ढीला हो गया तो बड़ा सुख मिला। आराम भीतर के संतुलन के कारण से हुआ कि बाहर की वस्तुओं के कारण से हुआ-इस पर अपना कभी ध्यान जाता है ? नहीं जाता है।

यह पद मिल गया तो बड़ा सुख मिला, इस व्यक्ति से भेंट हो गई तो बड़ा मजा आ गया, इस स्थान पर पहुँच गये तो बड़ा सुख हो गया। लेकिन इसका अर्थ वह है ही नहीं। अन्यथा उसका प्रमाण देख लीजिये। मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि एक वस्तु के लिये आप बड़े लालायित थे, बड़ी दौड़-धूप कर रहे थे। चेष्टा करते-करते वस्तु आपको मिल गई। जिस क्षण वह वस्तु मिल गई उस क्षण आपके भीतर जितनी प्रसन्नता थी, दो-चार घंटे के बाद, दो-चार दिन के बाद उतनी खुशी रही क्या ? वस्तु तो है आपके पास, खुशी उतनी क्यों नहीं है ? अगर उस वस्तु में खुशी है, वह वस्तु अगर आपके लिये सुखद है तो वस्तु रहते-रहते आपकी खुशी जानी नहीं चाहिये। लेकिन जाती है। किसी पद के लिये आप बड़े लालायित हैं और पाने के लिए जो नहीं करना चाहिये सो भी कर रहे हैं। संकल्पों का वेग व्यक्ति के भीतर उठता है तो न उसे कर्त्तव्य सूझता है, न उसे परमात्मा की याद

आती है। ऐसा व्यक्ति संकल्प-पूर्ति के सुख के आकर्षण से मनुष्यता के Standard आदर्श से नीचे उतर जाता है। होश ही नहीं रहता उसे कि मैं मनुष्य हूँ। याद ही नहीं रहता है।

किसी तरह यह पद मुझे मिल जायेगा, बड़ा आराम हो जायेगा। मिल तो गया सही ! -प्रकृति का विधान बड़ा विचित्र है। सृष्टि कर्त्ता का विधान बड़ा विचित्र है। कभी-कभी मिल भी जाता है और कभी नहीं भी मिलता है। मिल तो गया लेकिन जिस समय वह मिला, उस समय आपको जितनी खुशी मालूम हुई भीतर से, जितना आराम लगने लगा, उसी पद पर प्रतिष्ठित हुए, उसी पद पर बैठे-बैठे एक दिन, दो दिन, चार दिन, दस दिन, ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है वह प्रारम्भिक खुशी खत्म होती जाती है और एक समय ऐसा भी आ जाता है उसी मनुष्य के सामने, कि उस पद पर बैठे रहना ही उसके लिये बड़ा दुःखदायी हो जाता है। अगर उसमें सुख है, भीतर से जो आपको आराम मिला, अगर वह पद का आराम है तो पद के रहते-रहते बे-आराम आप क्यों अनुभव करने लगे ? यह सोचने की बात है। यह हो गई वैज्ञानिक स्तर की बात।

आज के विज्ञानवेत्ता इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि भाई, इच्छाओं की पूर्ति से जो सुख मालूम होता है, उस सुख को वस्तुओं पर आरोपित मत करो, व्यक्तियों पर आरोपित मत करो। विज्ञान के इस सत्य को जान लो कि आराम जो मिला वह मानसिक तनाव खत्म होने के कारण मिला। आगे चलकर कष्ट क्यों हो गया ? आगे चलकर कष्ट इसलिए हो गया कि वह वस्तु तो आपके पास रखी है, भीतर कोई दूसरा संकल्प पैदा हो गया तो भीतर फिर नया टेंशन पैदा हो गया। नया तनाव खड़ा हो गया। तो वह वस्तु भाड़ में जाए। अब आपको अच्छा ही नहीं लग रहा है, क्योंकि अब नया संकल्प उठ गया तो अब उसके पीछे लग गए। इससे काम चला नहीं। न वस्तुओं ने आराम दिया, न व्यक्तियों ने आराम दिया, न पद ने आराम दिया, न वस्त्राभूषण ने आराम दिया, न महल अटारी ने आराम दिया। इनसे आराम नहीं मिला। ये तो हमको मिलते गये और फीके प्रमाणित होते गये।

देखिये, सृष्टि का विधान कितना मंगलकारी है ! संसार किसी को धोखे में नहीं रखता है। आप इनके पीछे दौड़ते हैं और परम कृपालु ने कृपा करके इतना बढ़िया विधान बना दिया है, कि कुछ इच्छायें तुम्हारी जरूर पूरी हो जायेंगी और कुछ इच्छायें तुम्हारी हरगिज पूरी नहीं होंगी। तो संसार किसी को धोखे में नहीं रखता है। संसार के किसी भी रूप को आप पकड़ कर बैठिये। थोड़ी ही देर में आपको इस बात का पता चल जायेगा कि इसमें सार नहीं है। क्यों नहीं है ? कि जो आराम मैंने इस वस्तु में समझा था, वह आराम इस वस्तु में तो है नहीं, क्योंकि यह मेरे पास रखी हुई है, हर प्रकार से सुरक्षित है, फिर भी मेरे भीतर तनाव पैदा हो गया, फिर भी मेरे भीतर नीरसता पैदा हो गई, फिर भी मेरे भीतर विकार पैदा हो गये। बेआराम हो गया। तो संसार के स्वरूप का परिचय मिल गया अपने को।

मुझे जब परिचय मिल गया तो मैंने भीतर ही भीतर सोचा कि अपनी बुद्धि से जो-जो समझ में आता था, सब मैंने करके देखा। कहीं भी मुझको स्थिरता नहीं मिली, शान्ति नहीं मिली। अचल आधार नहीं मिला। तो अब क्या करें ? जो कुछ पढ़ने-लिखने का शौक था, सब पूरा करने के बाद भीतर से एक राह सूझी और ऐसा लगने लगा कि अब तो कोई भगवान के घर का दरवाजा देखा हुआ संत मिले तो हमको दरवाजा दिखा दे। यह बात पैदा हो गई। जब संतों के पास व्यक्ति जाता है, अनुभवीजनों के पास व्यक्ति जाता है, जिनके पास कुछ भी नहीं है। न महल, न बैंक अकाउन्ट (Bank Account) है, कुछ भी नहीं है, फिर भी वे मस्त हैं - ऐसा जब हम लोग देखते हैं तो उनके प्रति बड़ा आकर्षण होता है।

एक विनोद की बात याद आ गई। स्वामीजी महाराज एक गृहस्थ के घर में ठहरे थे। रात में उनके घर में चोर आ गये; कुछ सामान चोरी हो गया। स्वामीजी महाराज ने स्नान करके कटिवस्त्र शाम के समय धोकर आँगन में सूखने के लिए लटका दिया। चोरों ने कुछ सामान बाँधने के लिये वह वस्त्र ले लिया। सवेरे-सवेरे उठ करके घरवाले कहने लगे कि भाई, सामान चला गया, चोरी हो गई।

महाराजजी ने अपने गृहस्थ मित्र को पास बैठाया और पूछा कि कहो भाई, क्या हाल है ? तुम्हारी सारी सम्पत्ति का कितना प्रतिशत चोरी गया होगा ? वे अच्छे सम्पत्तिशाली व्यक्ति थे। थोड़ी मामूली-सी चोरी हुई थी। कहने लगे कि स्वामीजी, कोई खास तो नहीं मालूम होता है। यही बस, आठ-नौ हजार का सामान गया होगा। मैं समझता हूँ कि एक बटा बीस भाग भी नहीं होगा। स्वामीजी महाराज खूब हँसे और हँसकर कहते हैं -"अरे यार, तब क्यों मन को उदास करते हो ? देखो तो, हमारा तो पचास प्रतिशत चला गया। दो कटिवस्त्र ही मेरी सम्पत्ति हैं। उसमें से एक उन लोगों ने ले लिया तो मेरी तो पचास प्रतिशत सम्पत्ति चली गयी।" बड़ा आकर्षण हम लोगों को होता है कि संत के पास कोई सामग्री नहीं है - कुछ नहीं है और वे कितने आनंदित हैं ! तो चलकर उनसे पूछें तो सही कि उनके आनंद का आधार क्या है ? उनको यह आनन्द कैसे मिला है ?

जीवन में प्रधानता किस बात की है ? प्रधानता वस्तु की नहीं है, प्रधानता इस बात की है कि तुमको आराम कितना है। प्रधानता सम्पत्ति की नहीं है, प्रधानता इस बात की है कि तुमको शान्ति कितनी है। प्रधानता बड़े भारी पद की और बड़े भारी सम्मान की और बड़े अच्छे कुटुम्ब की नहीं है, प्रधानता इस बात की है कि तुम्हारे चित्त में प्रसन्नता कितनी रहती है ? ठीक है। अब इस दृष्टि से जीवन को देखना।

किसी के पास कपड़ों का अंबार भरा पड़ा होगा और किसी के पास दो ही वस्त्र होंगे। अगर दोनों में दीनता और अभिमान की कोई बात नहीं आयेगी, तो बड़ा आराम मिलेगा। माताओं-बहनों का हाल तो मुझको ज्यादा मालूम है क्योंकि मैं उसी वर्ग में रही हूँ। थोड़ी-थोड़ी-सी बात के लिये दिल छोटा हो जाता है। जरा-जरा-सी बात के लिये परस्पर में कम्पीटीशन (Competition) करके किसी को अभिमान आ जाता है-तो किसी को दीनता आ जाती है। इसी आधार पर कि मेरे पास बहुत कपड़े हैं, मेरे पास बहुत गहने हैं, यह सामान है। सोचो भाई-हम लोग मनुष्य हैं और मनुष्य होने के नाते हर भाई, हर बहन को

आराम चाहिये, शान्ति चाहिये, विश्राम चाहिये, प्रसन्नता चाहिये, निर्भयता निश्चिंतता चाहिये। चाहिये कि नहीं ?

अब सोच करके देखना। मुझको अपना चित्र दिखाई दे रहा है संत मिलन के पहले का। मैं देख रही हूँ कि छटपटी जो लगी रहती है- दौड़-धूप जो लगी रहती है, उसमें आदमी की दृष्टि शान्ति पर कम जाती है और वस्तुओं पर ज्यादा जाती है। यह सामान आ जायेगा तो अपने को बड़ा अच्छा लगेगा। अच्छा क्या लगेगा भाई ? अच्छा लगने वाला जो जीवन है, वह तो तुम्हारे भीतर है। जो अच्छा लग सकता है और जो सदा के लिये अच्छा लग सकता है, जिसकी मधुरता कभी घटती ही नहीं है, दिन-दिन बढ़ती जाती है, जिसकी प्रियता का रस कभी सूखता ही नहीं है, उत्तरोत्तर बढ़ता ही चला जाता है, वह तो तुम्हारे भीतर है। इस बात का पता कब चलता है ? जब अपने ही आनन्द में मस्त अनुभवी संतजन के पास बैठते हैं।

मुझे काफी समय लगा इस बात को सोचने में कि क्या करने से जीवन अच्छा लगेगा। तो बाहर से कुछ भी करने से अच्छा नहीं लगा। संत के पास बैठने से पता चला कि भाई, जो अच्छा लगने वाला है, जो कभी ने मिटने वाला है, जो सदा ही साथ देने वाला है, जिसकी संगति सदैव ही प्रिय लगती है, वह तो तुम्हारे भीतर है। उस पर तुम्हारी दृष्टि गई नहीं। जो कभी भी स्थिर रह नहीं सकता, जो कभी तुम्हें प्राप्त नहीं हो सकता, उस प्रतीत होने वाले जगत् के पीछे दौड़ने से यह थकान है, नीरसता है, मृत्यु का भय है। यह सारी दुर्दशा है। इस बात का मुझे पता चला।

मुझे अच्छी तरह से याद है कि जिस दिन मुझे पता चला कि मुझे जो चाहिये, वह मेरे ही भीतर है उसी दिन से बाहरी वस्तुओं पर से दृष्टि हट जाने के कारण बड़ा आराम मिल गया। इसको मैं सत्संग कहती हूँ। आप भाई-बहनों की सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ मैं, कि सत्संग कोई क्रिया नहीं है, काई अभ्यास नहीं है कि साल-साल तक करते रहोगे। कोई सीमा बना दी जाए कि पन्द्रह बरस तक लगातार

यहाँ पर आते रहोगे, सत्संग सुनते रहोगे तो तुम्हारे दुःख का भार हल्का हो जायेगा। पन्द्रह बरस पूरे न हो पाये और बीच में ही राम नाम सत् हो गया तो ? ऐसा नहीं है। ऐसा कभी मत सोचना।

मैंने तो प्रत्यक्ष रूप से इस बात को अनुभव किया कि सत्संग कहते ही उसको हैं कि आपने ग्रन्थों में से पढ़ा, संतों के मुख से सुना, परस्पर बैठ करके विचार किया और विचार करते ही करते जीवन का सत्य आपकी दृष्टि में आ गया और उसको आपने सही मान कर स्वीकार किया नहीं कि दुःख का भार हल्का हो गया। दुःख का भार उतर गया। तुरन्त का तुरन्त होना चाहिये।

संसार जो है, अपने स्वरूप का परिचय देता है अवश्य। अगर आप स्वतंत्रापूर्वक जीवन की घटनाओं को देखेंगे, तो साफ-साफ दिखाई देता है कि संसार हम लोगों से मानो कहता हो कि भाई देखो, मुझमें विश्वास मत करो। कहता है कि नहीं ? फिर भी हम लोग मानने को तैयार नहीं। फिर भी कहते हैं तुम चाहे भले नाशवान् हो, हम तो तुम्हीं को पकड़ कर बैठेंगे। प्रकृति का विधान यह है कि पकड़ कर बैठेंगे तो मुट्ठी में से वह भी छूट जायेगा और तुम्हारे भीतर की शांति भी चली जाएगी।

इसलिये मैं निवेदन कर रही हूँ कि सत्संगी होकर, सत्संग के नाते आप आकर यहाँ बैठते हैं तो सत्य की चर्चा में से आवश्यक बातों को इस प्रकार पकड़िये अपने लिये, कि आपके भीतर की दीनता और अभिमान खत्म हो जाए। बहुत वस्तु मेरे पास रहेगी, तो मेरा मूल्य बढ़ेगा। महाराजजी कहते कि अरे भैया, ऊँचे मकान में रहने से मूल्य बढ़ता है तो मकान मूल्यवान हो गया, तुम्हारी कीमत क्या रही। अगर अच्छे-अच्छे वस्त्राभूषण से तुम अपने को गौरवशाली मानते हो तो वस्त्र और आभूषण का मूल्य बढ़ गया। तुम्हारा मूल्य कम रहा।

जिस सजग मानव के भीतर ज्ञानस्वरूप विद्यमान है, जिसके भीतर प्रेमस्वरूप की मधुरता लहरा रही है, जिसके भीतर चिर-शांति मौलिक रूप में विद्यमान है, उसका मूल्य ईंट-पत्थर से बनेगा ? उसका

मूल्य मोटर और टेलीफोन से बनेगा ? ये वस्तुएँ अगर तुम्हारे पास आ जायें तो ऐसा ही सोच लेना कि मुझमें करने का राग रहा होगा तो मेरे प्यारे ने अपने मंगलकारी विधान के अनुसार मुझे राग मुक्त करने के लिये यह सब दे दिया है। लाओ, इनका जल्दी-जल्दी उपयोग करके इनके राग से मुक्त हो जाओ। और नहीं है ये सब सामान अपने पास, तो अपने को सावधान रखो। वस्तुओं के अभाव में अपने को भाग्यहीन मत मानो। जितनी कम वस्तुएँ आयेंगी, उतना ही कम प्रवृत्ति का दायित्व तुम पर आयेगा। तो वस्तुओं का कम आना हमारे लिये सौभाग्य की बात है।

वस्तुएँ कम आ रही हैं तो इसका मतलब है कि मेरे मालिक मुझको ज्यादा भार नहीं दे रहे हैं। थोड़ा-थोड़ा आवे, थोड़ा-थोड़ा बाँट-बूँट दिया, तो जल्दी प्रवृत्ति खत्म हो गई। जल्दी से उसकी स्मृति में खो गये। और ज्यादा सामान उन्होंने दे दिया तो ज्यादा-ज्यादा उसकी रक्षा करो, उसे ज्यादा-ज्यादा बाँटो, ज्यादा-ज्यादा काम में लाओ, सड़ न जाए, खो न जाए, बर्बाद न हो जाए। प्रकृत्ति की संपत्ति है तो उसे खोयेंगे भी क्यों, सड़ने भी क्यों देंगे, बर्बाद भी क्यों होने देंगे। परमात्मा की संपत्ति है तो उसकी संपत्ति को बिगाड़ेंगे भी क्यों।

भरतलालजी के चरित्र में यह प्रसंग आता है। सोच रहे हैं भीतर ही भीतर चित्रकूट जाना है श्रीराम से भेंट करने के लिए, मिले बिना रहा ही नहीं जाता। तो कह रहे हैं कि राज्य-कोष, भंडार, सारी प्रजा सब कुछ तो रघुनाथजी का है। अगर मैं यों ही इसको छोड़ करके चला जाऊँ तो बड़ा भारी दोष लगेगा। सेवक-धर्म से मैं च्युत हो जाऊँगा। मुझको तो सब सँभालना ही चाहिये। दूसरे लोग देखेंगे तो कहेंगे कि देखो, उनके मन में राज्य का लालच तो था ही, सब षडयंत्र इन्हीं का रचा हुआ है। अब ये कितने प्रेम से सेना, भंडार, राज्य और राजधानी की रक्षा का इंतजाम कर रहे हैं, जरूर इनको लोभ रहा होगा। भरतलालजी कह रहे हैं कि लोग मुझको कुछ भी समझें और कहने वाले कुछ भी कहें, लेकिन-''सब सम्पत्ति रघुपति कै आही'', ये सब

कुछ उनका है तो इसको अरक्षित छोड़कर मैं चला जाऊँ तो सेवक-धर्म से च्युत हो जाऊँगा।

कोई-कोई भाई-बहन मुझको प्रश्न करते हैं कि अगर हम परिवार को अपना न मानें, बच्चों को अपना न मानें, संपत्ति को अपना न मानें तो उनकी रक्षा करने में, उनकी सेवा करने में हमारे भीतर क्या उतनी ही रुचि रहेगी। तो मैं कहती हूँ कि एकबार करके तो देखो, उससे सौ गुना अधिक चाव बढ़ जायेगा।

अनित्य सम्बन्ध मान करके अगर तुम्हारी इतनी रुचि उसमें लग रही है तो नित्य सम्बन्ध मानने के बाद, ममता और कामना से मुक्त होने के बाद उसमें कोई कमी आयेगी ? कभी नहीं आती है। पर बड़ा भारी भ्रम है। मैं तो ऐसा सोचती हूँ कि किसी व्यक्ति को एक दिन के लिये भी सिर्फ बात करने का मौका न मिले, गंगा के तट पर बैठने का मौका न मिले तो भी चिन्ता की कोई बात नहीं है। अगर वह मनुष्य है, और अपने ही जीवन की घटनाओं को देखकर विचार करे, तो उसे स्पष्ट पता चल जायेगा कि आराम कहाँ है, शांति कहाँ है, प्रियता कहाँ है, प्रसन्नता कहाँ है। बाहर-बाहर तो कहीं है नहीं भाई।

यदि वह समर्थ है और 'नहीं' को 'नहीं' जान कर अस्वीकार कर देगा तो उसमें 'है' की अभिव्यक्ति होकर जीवन की पूर्णता हो जायेगी और उससे ऐसा न किया जाय तो सद्ग्रन्थों का अवलोकन करले, उनमें सब बातें लिखी हुई हैं, उनसे उसको पाठ मिल जायेगा। अगर पढ़ा-लिखा भी नहीं है, न योग्यता है तो किसी अनुभवी संत के पास बैठ जाये, उनसे विचार-विमर्श करले, उनकी बातों में आस्था करले, उससे भी उसका काम चल जायेगा। हर प्रकार से उसका विकास हो सकता है।

मैंने बहुत ही बेबसी में पड़ी हुई महिलाओं को देखा है। उनके जीवन के उत्थान को देखा है। अगर किसी प्रकार से उनके परिवार के लोग साधु-संत के पास जाने के लिये, बैठने के लिये घर में से निकलने नहीं देते हैं और फिर उनके भीतर आवश्यकता है, जिज्ञासा

है, ऊँचे जीवन की प्यास है तो परम कृपालु संत घूमते-घामते उनके पास पहुँच जाते हैं और उनको सच्ची बात बताकर चले जाते हैं।

मैंने कई ऐसे उदाहरण देखे हैं कि जो घर में से किसी प्रकार से बाहर नहीं निकल सकते-असमर्थता के कारण या पारिवारिक प्रतिकूलता के कारण, तो उनको स्वप्न में सन्मार्ग दिखा दिया जाता है। स्वप्न में देखते हैं कि कोई संत आये और ऐसा-ऐसा कह करके चले गये। ऐसी बातें भी जीवन में होती हैं।

इन्हीं के आधार पर मैंने स्वामीजी महाराज की सलाह मान ली। कौनसी सलाह ? कि अगर तुम्हें मार्ग-दर्शन की आवश्यकता है तो आवश्यकता अनुभव करो तुम और उसकी पूर्ति का इंतजाम करेंगे जीवनदाता परमात्मा। अगर तुम्हारे भीतर साधन करने में असमर्थता है, तुमसे होता ही नहीं है किसी प्रकार से, तो जिस बुराई को छोड़ना चाहते हो, उसको न छोड़ सकने के कारण से बालक की तरह अधीर होकर रोने लग जाओ तुम। हाय, मैं क्या करूं ? मांसाहार अनुचित है पर उस स्वाद का रस मुझसे छोड़ा ही नहीं जाता है, वासना मेरे भीतर से निकली ही नहीं जाती है। तो जिस बुराई को न छोड़ सकने के कारण तुम व्याकुल हो जाओगे, वह बुराई स्वतः छूट जायेगी।

जिन अलौकिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति के बिना तुम व्याकुल हो जाओगे, वे अलौकिक तत्त्व स्वतः ही तुममें अभिव्यक्त हो जायेंगे। अपने ही में जो विश्राम विद्यमान है, अपने ही में जो शांति, स्वाधीनता और प्रेम का रस विद्यमान है, उसकी अभिव्यक्ति के लिये मनुष्य बाहरी किसी बात पर पराधीन नहीं है। पारिवारिक प्रतिकूलताएँ भी इसमें बाधक नहीं बन सकती। तो सभी भाई-बहनों की सेवा में बहुत ही आत्मीयता के साथ मैं निवेदन कर रही हूँ कि सचमुच आप इस बात को जीवन का सत्य कह कर स्वीकार करिये कि आप जो चाहते हैं- शांति, स्वाधीनता, उदारता, निर्भयता, निश्चिंतता, सरसता और अमरत्व-यह जो आपकी माँग है, इसकी पूर्ति संसार की किसी वस्तु से नहीं होगी, किसी व्यक्ति से नहीं होगी। पहली बात तो यह स्वीकार करलो। दूसरी बात यह है कि आपकी जो माँग है वह आप ही में विद्यमान है। उसकी

अभिव्यक्ति के लिये केवल तीव्र आवश्यकता अनुभव करना जरूरी है। बाकी और कुछ नहीं। बाकी करने के जितने कार्य हैं, वे सेवा के लिये है।

सत्य की अभिव्यक्ति के लिये कुछ करने की बात है ही नहीं। करने चलोगे तो शरीर का सहारा पकड़ोगे। शरीर नाशवान् है। नाशवान् का सहारा पकड़ करके अविनाशी की अभिव्यक्ति होगी ही नहीं। जहाँ करने की बात नहीं है वहाँ पराधीनता काहे की ? कोई पराधीनता नहीं है। घर में किसी प्रकार की खटपट व अप्रियता पैदा करने की कोई जरूरत नहीं है। अकेले-अकेले बैठ करके विचार करते जाओ, जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलते जाओ, जीवन के सत्य को स्वीकार करते जाओ। तुम्हारे ही भीतर से राग मिट जायेगा, क्षोभ मिट जायेगा, कामना मिट जायेगी, अभिमान मिट जायेगा, दीनता मिट जायेगी। भीतर तो शांति विद्यमान ही है। खोजने कहीं बाहर जाना ही नहीं है।

अब शांत हो जाइये।

(54)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

मुख्य बात आज के प्रसंग की यह है कि ऐसा कर्म करो कि बस करने का अन्त ही हो जाये। अन्यथा करने की श्रृंखला समाप्त नहीं होगी तो इसमें असाधन क्या है और साधन क्या है - भाई यह पूछ रहे हैं। महाराजजी के सूत्र इस प्रकार हैं। उन्होंने हम लोगों को सलाह दी है कि क्रियाशक्ति तुम्हारे पास है और करने का राग भी है, तो ऐसा कर्म मत करो कि जिसे करने से करने की उत्पत्ति होती चली जाये। कर्म से कर्म उत्पन्न होता चला जाये-ऐसा मत करो। ऐसा करो कि जिससे करने का अंत हो जाये। यह उनका सूत्र है।

अब इसमें एक बहुत सीधी-सादी बात है। अगर क्रियाजनित

सुख का भोग करते रहेंगे तो करने का राग नहीं मिटेगा। करने का राग नहीं मिटेगा तो शरीर की आवश्यकता समाप्त नहीं होगी। शरीर की आवश्यकता शेष रहेगी और प्राणशक्ति का नाश हो जायेगा तो मृत्यु होगी और राग ले कर मरने से पुनर्जन्म अनिवार्य है।

मूल भूल क्या हो गई ? कि कार्य करने की क्षमता मिली है तो विवेक के प्रकाश में, प्रेम के भाव से, साधन बुद्धि से ऐसा काम करो कि करने का राग समाप्त हो जाए। क्रियाजनित सुख का भोग असाधन है और राग निवृत्ति के लिये परोपकार साधन है। क्रियाजनित सुख का राग क्या है-वह भी देख लीजिये। थोड़ी देर के लिये चुपचाप बैठने की कोशिश करो। बोलते- बोलते मुँह थक गया, तो चुप होना अच्छा लगेगा। चलते चलते पाँव थक गये, तो बैठ जाना अच्छा लगेगा। अब कोई मुझको सलाह दे दे कि तुम चुप ही रहो, बोलना मत या आपको कह दिया जाय कि अब बैठ गये हो तो बैठे ही रहो, यहाँ से उठो मत। तो क्या होगा ? कुछ देर के बाद जी घबराने लगेगा कि भाई, यह बैठने का काम कब खत्म हो, कब यहाँ से उठें ? तो राग की यह पहचान है कि प्रवृत्ति में लगे बिना अपने से रहा नहीं जाता।

स्वामीजी महाराज कह रहे हैं-तुम्हारे भीतर करने का राग था तो तुम्हें शरीर धारण करके जगत् में आना पड़ा। सही बात है। परम कृपालु ने कृपा करके तुम्हें मानव जीवन दे दिया है। राग निवृत्ति की सामर्थ्य तुम में है। विवेक का प्रकाश तुमको दिया गया है। हृदय में उदारता तुमको दी गई है तो सुख भोग की प्रवृत्ति में लगे रहोगे तो करने में से करने की उत्पत्ति होती रहेगी और राग की निवृत्ति की साधना में लग जाओगे तो करने का अंत हो जायेगा।

परम कृपालु ने मानव जीवन दे दिया और मनुष्य हो करके हम लोग ऐसा अनुभव करते हैं कि कुछ न कुछ साधन करना चाहिए। तो अब साधन क्या करें? साधन के सम्बन्ध में महाराज जी ने दो चार बातें हम लोगों के सामने रखीं कि विवेक के प्रकाश में जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को बदल डालो और यह निश्चय करो कि काम किया

जाता है विश्राम के लिए और विश्राम होता है अपने लिये। काम किया जाता है सुंदर समाज के निर्माण के लिए और विश्राम लिया जाता है अपनी शान्ति, मुक्ति, भक्ति के लिये।

यह दृष्टिकोण जब अपने सामने स्पष्ट हो जायेगा तब आदमी सही काम करेगा। सही प्रवृत्ति के अंत में सहज निवृत्ति मिलती है सहज निवृत्ति की शांति में योग, बोध और प्रेम की अभिव्यक्ति होती है। करने का राग खत्म हो जाता है शरीर की आवश्यकता पूरी हो जाती है, तो मृत्यु स्पर्श नहीं कर सकती और अमर जीवन से अभिन्न होकर मनुष्य सदा-सदा के लिये कृत-कृत्य हो जाता है।

तो पहला साधन, पहला उपाय क्या होगा ? कि हम लोग अपने सम्बन्ध में जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदलें। गलत दृष्टिकोण को छोड़ें। सही द्दष्टिकोण को ग्रहण करें। गलत द्दष्टिकोण क्या है ? कि कुछ करेंगे तो कुछ मिलेगा तो उससे जीवन का निर्वाह होगा। यह असाधन है। कुछ करेंगे तो कुछ मिलेगा यह सही बात है, लेकिन जो मिलेगा उससे तुम्हारा जीवन है, यह गलत बात है। जो मिलेगा, वह शरीरों के अर्पित कर दिया जायेगा; उससे आगे काम नहीं आयेगा।

काम किया जाता है करने के राग से मुक्त होने के लिये। श्रम किया जाता है सुंदर समाज के निर्माण के लिये। श्रम किया जाता है प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग करने के लिये और इन सबका फल होता है-विश्राम। स्वामीजी महाराज ने सूत्र रूप में कह दिया कि श्रम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये। 'अपने लिये' का अर्थ क्या है ? कि जो अपने ही जीवन में चिर-शांति का तत्व विद्यमान है वह विश्राम काल में अभिव्यक्त होता है। अपने ही में जो अपने परम प्रेमास्पद विद्यमान हैं, उनकी प्रीति की जागृति होती है। अपने को शांति चाहिये, अपने को अमरत्व चाहिये, अपने को परम-प्रेम चाहिये।

सबसे पहला उपाय हम लोग क्या करें ? कि अकेले-अकेले बैठकर अपने को खूब अच्छी तरह से समझालो कि अपने को जो

चाहिये, वह किसी कर्म का फल नहीं है। यह बात पकड़ में आती है? आप कहेंगे कि कैसे नहीं है। हम तो इतनी इतनी तीर्थ यात्रा करेंगे तो फल मिलेगा । ठीक है, फल मिलेगा। लेकिन अगर फल की इच्छा रख करके करोगे तो अपने को जो चाहिये, वह नहीं मिलेगा। कर्म का फल हमेशा ही नाशवान् होता है। क्यों ? कर्म का संपादन हमेंशा ही नाशवान् कारक अंगों की सहायता से होता है। इस बात को मानियेगा कि नहीं ? जी ? स्थूल कर्म, चाहे सूक्ष्म कर्म, किसी भी प्रकार के कर्म का संपादन करो तो उसमें शरीरों की सहायता लेनी पड़ेगी कि नहीं लेनी पड़ेगी ? और शरीर नाशवान् है कि अविनाशी है ?

नाशवान् की सहायता लेकर जिन कर्मों का संपादन हुआ उन कर्मों का फल अविनाशी कैसे होगा ? आपको अविनाशी जीवन चाहिये। ठीक है न? अरे भाई, नाशवान् को समेटने, बटोरने के प्रयास में आँख की रोशनी चली गई, सुनने की ताकत खत्म हो गई, रीढ़ की हड्डी झुक गई। कोई फायदा हुआ ? जब से होश हुआ, जब से कुछ करने के लायक हुए, तब से कर रहे हैं कि बैठे हैं? कुछ न कुछ कर ही रहे हैं जिनमें आलस्य है, वे थोड़ी जड़ता में डूबे रहते हैं और जिनमें फुर्ती है वे जल्दी-जल्दी, ज्यादा से ज्यादा काम करते रहते हैं। पूरी जवानी भर काम किया । अब प्रौढ़ अवस्था आ गई। तब भी काम कर रहे हैं। शरीर नहीं चल रहा है, तब भी उसको घसीट रहे हैं।

इतना करके जो कुछ आपने प्राप्त किया, उसके द्वारा जिन्दगी की कमी पूरी हो गई कि अभी शेष है? ऐसा कह सकते हैं क्या, कि मैंने सब कुछ कर लिया, मुझे सब कुछ मिल गया, अब कुछ नहीं चाहिये? नहीं कह सकते। क्यों नहीं कह सकते ? क्योंकि पूरी शक्ति जमाकर, नई उम्र में कमाया। अब इसको सँभाल कर रखने की चिंता लगी है। हिसाब याद नहीं रहता है तो खाता लड़कों के हाथ में देना ही पड़ेगा, लेकिन चिंता रहती है। तो आवश्यकता पूरी हो गई कि असमर्थता बढ़ने का दुःख बढ़ गया ? जी ? दुःख बढ़ गया। आप असमर्थ होकर एक किनारे बैठ गये। नई पीढ़ी ने सारा कारोबार अपने हाथ में ले लिया। फिर भी आपको चिंता से छुट्टी नहीं है। आप पूछना

चाहते हैं कि उस बही का काम पूरा हुआ कि नहीं? उस दुकान का क्या हाल है ? नई पीढ़ी के लोग अपने ढंग से काम कर रहे हैं। आप उनको पूछ-पूछ कर हैरान हैं, उनको उत्तर देने के लिये फुर्सत नहीं है। कहते हैं-बाबूजी, बैठिये, राम-राम जपिये हम लोगों से पूछिये मत। यह दयनीय दशा देखने में आती है कि नहीं ?

इसलिये स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि भाई, जो भी तुमको क्रियाशक्ति मिली है उस सारी शक्ति को ऐसे काम में मत लगा दो कि काम करते करते फिर काम करने की उत्पत्ति होती रहे। तो करने का राग रखकर काम करना असाधन है। करने के द्वारा सुखभोग की इच्छा लेकर काम करना असाधन है। करने के द्वारा नाशवान् के संग्रह की इच्छा रखना असाधन है। यह सब छोड़ देना पड़ेगा।

साधन क्या है ? किये बिना न रहा जाये तो इस ध्येय को सामने रखकर काम करो कि जो कुछ मैं कर रहा हूँ, वह सब विश्राम की प्राप्ति के लिये है। अपने को चाहिये-विश्राम, योग, बोध और प्रेम। विश्राम में सहायक बनता है उचित श्रम। तो श्रम किया जाता है विश्राम के लिये। यह दृष्टिकोण ले कर आप काम करेंगे तो आपको बहुत अच्छा रास्ता मिलेगा। भौतिक दर्शन की दृष्टि से जगत् की सेवा के लिए काम करो तो करने का राग मिट जायेगा। पर-पीड़ा से पीड़ित होकर दुःखी जनों की सहायता के लिये काम करो, तो करने का राग मिट जायेगा। अध्यात्मवाद की दृष्टि से तीनों शरीरों से सम्बन्ध तोड़ने के लिये साधन बुद्धि से काम करो तो सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति आ जायेगी। आस्तिक दर्शन की दृष्टि से प्यारे प्रभु की प्यारी- प्यारी सृष्टि की सेवा के रूप में प्यारे की पूजा करो तो पूजा के पवित्र भाव से करने का राग मिट जायेगा। यह साधन हो गया।

मानव सेवा संघ की शैली में अति आधुनिक, अति सामान्य भाषा में स्वामीजी महाराज ने प्रकट किया कि शरीर में प्राणशक्ति के रहते-रहते व्यक्ति के भीतर से शरीर की आवश्यकता खत्म हो जाय तो यह जीवनमुक्ति है। स्वामी रामतीर्थ जी ने ऐसा अनुभव किया था। उन्होंने

वेदान्त दर्शन पर निबन्ध लिखे। बहुत कुछ लिखा, बहुत कुछ कहा। शरीर के नाश होने से पहले आखिरी निबन्ध जब लिखा था उन्होंने, तो उसके नीचे अपना हस्ताक्षर किया और लिखना बंद करके कहने लगे अब 'राम' को शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, चाहे जब चला जाय। उस वीर पुरुष ने संसार के वैभव को ठुकरा दिया, और जीवनकाल में, थोड़े ही दिनों में, वे कृत-कृत्य हो गये। भीतर में तो उन्होंने अनुभव कर ही लिया था कि एक ही नित्य तत्व है। उसी में 'मैं' हूँ और वही मुझमें है इस आशय के बहुत सुंदर आठ दस पदों की कविता भी है कि राम मुझमें है, मैं राम में हूँ। उनको इसका प्रत्यक्ष अनुभव था, बोध था। इसको वे लिख रहे थे तो लिखने ही के लिये जैसे कलम उठाते हैं, उसी तरह से उनको वेदान्त प्रकाश लिखने के लिये शरीर से सम्बन्ध रखने की जरूरत थी और जिस दिन आखिरी निबन्ध खत्म हुआ, उसके बाद और नहीं लिखा। आखिरी मैं इसलिये कहती हूँ कि उसके नीचे उन्होंने अपना हस्ताक्षर किया है और उसके बाद उन्होंने कहा है कि बस, अब काम हो गया। अब 'राम' को शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, चाहे जब चला जाय।

शरीर के नाश से पहले मनुष्य यह अनुभव कर ले कि अब मुझे शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, ऐसा अनुभव करना कहलाता है-जीवन-मुक्ति। ऐसा अनुभव कौन कर सकता है ? ऐसा अनुभव वह कर सकता है जिसने अशरीरी जीवन के आनन्द को अनुभव कर लिया; जिसने इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन को निर्विकल्प करके, बुद्धि को सम करके, कारण शरीर की स्थिति की शांति को पार करके, तीनों शरीरों की असंगता में, अपने आप में संतुष्ट होने का अनुभव किया। उसको पूरा पता चल जाता है कि मुझे अपने लिये शरीर की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। अशरीरी जीवन में इतना हल्कापन है, इतना आनंद है, इतनी स्वाधीनता है कि वहाँ समय और स्थान की सीमा नहीं, कारक अंगों की शक्तियों की सीमा नहीं। असीम विस्तार अपना ही मालूम होता है और बड़ा आनंद भरा रहता है।

जो साधक साधन काल में शरीरों से असंग होने का अनुभव कर

लेते हैं, शरीरों से तादात्म्य तोड़ने का अनुभव कर लेते हैं, उनको अशरीरी अस्तित्व में, अपने आप में बड़ी संतुष्टि मिलती है। सब प्रकार से वह शांति, वह आनंद, वह संतुष्टि, इन्द्रिय-मन-चित्त-बुद्धि निरपेक्ष है, इनकी सहायता से नहीं है। इनकी संगति के छोड़ने से जो आनन्द है उस आनन्द का अनुभव साधनकाल में साधकजन करते हैं। एक बार जिनको ऐसा अनुभव हो जाता है, वे अपने को जीवनमुक्त अनुभव करते हैं। उनको अपने लिये शरीर को बनाये रखने की आवश्यकता नहीं लगती। तो प्राणशक्ति बची रहे और आवश्यकता पूरी हो जाय; इसका नाम है जीवनमुक्ति। शरीर बनाये रखने की कामना बनी रहे और प्राणशक्ति का ह्रास हो जाय, तो इसका नाम है मृत्यु।

आप लोगों ने, बहुत से भाई-बहनों ने शास्त्रीय विवेचन सुना होगा। समाधि के भी कितने भेद-विभेद होते हैं। जीवनमुक्ति की भी बहुत-सी परिभाषायें, बड़े लक्षण बताये गये होंगे। उन सबको आप मिला कर देखियेगा। इस सूत्र के भीतर सब कुछ समा जायेगा कि कामना रह गई और शरीर का नाश हो गया-इसी का नाम है मृत्यु। जिन संतजनों के जीवन में शरीरों की असंगता का बोध हो जाता है-अशरीरी अस्तित्व में संतुष्ट रहने का आनन्द आ जाता है, उनको पता ही नहीं चलता कि शरीर कब गया। इससे उनको कोई मतलब ही नहीं रहता, उनकी मृत्यु ही नहीं होती। उसका नाम है जीवनमुक्ति।

एक बार स्वामीजी महाराज के पेट में Haemorrhage हो गया। पेट के भीतर रक्तपात हो गया, कोई नस फट गई होगी। शरीर की हालत बहुत खराब हो रही थी। शरीर अब गया, तब गया-ऐसा हो गया। जल्दी से डॉक्टर बुलाये गये। उन्होंने आकर कहा कि घर में तो नहीं सँभलेगा। हम Ambulance भेजते हैं, अस्पताल ले आइये। मानव सेवा संघ का सम्मेलन चल रहा था। कार्यकारिणी की बैठक हो रही थी। बहुत-बहुत लोग बाहर से आये हुए थे। चारों ओर हलचल मच गई। स्वामीजी महाराज ने मुझको बुलाया और उनके एक मित्र संत हैं नाथ जी महाराज, उनको बुलाया और कहने लगे- "Ambulance मत बुलाओ," हम सुन रहे थे, अस्पताल मत ले जाओ हलचल बन्द

करो, चिकित्सा के लिये परेशान मत होओ। मुझे उस जीवन में रहने दो, जहाँ रहने पर शरीर के रहने न रहने का पता नहीं चलता। हम लोग चुप हो गये। बाहर निकल करके सब लोगों को मैंने सुना दिया कि यह सन्देशा है स्वामीजी महाराज का। तो क्या करना चाहिये ? हमने कहा, जो कहते हैं सो करना चाहिये। सोचने की तो कोई बात ही नहीं। शरीरों से उन्होंने अपने को असंग कर लिया और किस आनन्द में रहे, यह तो वे ही जानें। हम लोगों ने देखा कि लगभग चौबीस घंटे तक, उससे भी कुछ ज्यादा देर तक बिल्कुल मिट्टी के ढेले की तरह बिस्तर पर शरीर चुपचाप शान्त पड़ा रहा और स्वामीजी महाराज अपने आनन्द में रहे। उनको यह पसन्द नहीं आया कि हाय शरीर, हाय शरीर, किया जावे, तो उन्होंने सब कुछ बन्द करवा दिया और उस जीवन में रहे जहाँ रहने पर शरीरों का भास नहीं होता। खूब आनन्द में रहे।

अभी भी उच्चकोटि के कुछ संत हैं, जो कि उनके आनन्द को जान सकते हैं-उनके अस्तित्व को देख सकते हैं वे लोग देखते हैं और हम लोगों को बताते हैं कि महाराज जी खूब आनन्द में हैं और कह देते हैं कि देखो, मैं कितना आनन्द में हूँ। जिस शरीर में इतने प्रकार के रोग समा गये थे, उसी शरीर में तुम लोग हमको रखना चाहते थे। देखो, अब मैं कितना आनन्द में हूँ। यह सच्ची बात है।

मैं कहती हूँ कि भगवान ने, जन्मदाता ने मानव जीवन दिया है तो इस जीवन का, इस जन्म का अर्थ ही है कि जीवनमुक्ति प्राप्त करो। खा-पी करके, बच्चे पैदा करने का सुख भोग करने के लिये तो चौरासी लाख योनियाँ हैं ही। चौरासी लाख में से एक कम कर दूँ। नहीं तो हम लोग भी उसी में शामिल हो जायेंगे। तो कितना हो जायेगा ? तिरासी लाख निन्यानवे हजार नौ सो निन्यानवे योनियाँ तो सुख-दुख भोगने के लिये हैं ही। बस, आप ही तो हैं जिनको इस बात में समर्थ बनाया गया है कि-"साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।" ऐसा जीवन पाकर आप जल्दी से जल्दी जीवन मुक्त हो जायें, भगवद् भक्त हो जायें। ऐसा होता आया है अनहोनी बात नहीं है।

स्वामीजी महाराज की महिमा मैं क्या बताऊँ। एक गृहस्थ का जीवन मैंने देखा। बड़े ऊँचे घराने में पैदा हुए, बड़ा ही उज्ज्वल चरित्र रहा उनका। अंग्रेजी राज्य (British Govt.) के जमाने में 'राय बहादुर' का खिताब मिला उनको। बड़े आदमी थे। महाराज जी से मिलन जब हुआ उनका तो वे सब प्रकार से संत के समर्पित हो गए। स्वामीजी की गोदी में सिर रख दें और अधीर होकर कहें, "महाराजजी ! मेरा उद्धार कैसे होगा ? मुझको तो लड़के बहुत अच्छे लगते हैं, स्वामीजी। मेरी ये बहुऐं तो माँ के समान मेरी सेवा करती हैं। स्वामीजी! हाय, मेरा उद्धार कैसे होगा ?" उन्हीं सज्जन को भगवत् शरणागति की साधना से, संत की वाणी में विश्वास करने से जीवनमुक्ति का अनुभव हो गया। "अब मैं जीवनमुक्त हूँ, मेरी मृत्यु नहीं होगी, मेरा जन्म नहीं होगा, मुझको संत ने आश्वासन दिया था, मुझको स्वामीजी महाराज ने कहा था। उस समय मुझको विश्वास नहीं होता था, अब मुझे अनुभव हो गया। मुझे प्रकाश ही प्रकाश दिखाई दे रहा है, मुझमें आनंद ही आनंद भरा है । मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ, मैं मुक्त हूँ..........." कहकर उन्होंने सबको कमरे में से विदा कर दिया और आनंद में चले गये । तो जीवन मुक्ति असंभव बात नहीं है और जीवनमुक्ति किसी व्यक्ति विशेष के लिये नहीं है । जीवनमुक्ति के अधिकारी सभी साधक हैं ।

जो साधक बनेगा, अपने को साधक स्वीकार करेगा, (साधक की स्वीकृति अनिवार्य है) फिर वह साधक सबल है कि निर्बल है-इस बात का विचार जीवनदाता नहीं करते हैं। अब एकदम से अपनी आँखों पर परदा ही डाल दो, विवेक के प्रकाश का आदर करने से इंकार ही कर दो, विचार की शक्ति को बिल्कुल ही कुंठित करके रखदो, पशु की भांति भोग बुद्धि से ही जीना पसन्द करो, तब तो मानव की संज्ञा ही नष्ट हो गई। तब तो हम मनुष्य रहे ही नहीं। लेकिन मनुष्य हो और भीतर थोड़ी-सी भी सजगता है कि यह जीवन मिला है जीवन मुक्ति के लिये, भगवद्‌भक्ति के लिये-थोड़ी सी भी चेतना है तो अपने को सत्संगी बनाओ। अपने को साधक स्वीकार करो। अल्प सामर्थ्य होगी

तब भी और विशेष सामर्थ्य होगी तब भी, जीवनमुक्ति, भगवद-भक्ति मिलेगी जरूर।

अब आखिरी बात उन्होंने लिखी-'प्रभु चिंतन होवे;। बहुत सही शब्द का प्रयोग किया है उन्होंने । करने के लिये लिख रहे हैं परोपकार और प्रभु-चिन्तन के लिये लिख रहे हैं -"होवे"। उसमें क्या रहस्य है ? रहस्य यह है कि कुछ लोगों को आपने ऐसा कहते सुना होगा कि प्रभु-चिंतन करो, भगवद् चिंतन करो।' उनका विश्वास है कि शुभचिंतन करने से अशुभ चिंतन का नाश होता है। मेरा अपना जो समझा हुआ है, वह यह है कि चिंतन से चिंतन का नाश नहीं होता है। स्वामीजी महाराज का जो अनुभव किया हुआ है, वह यह है, कि करने वाला चिंतन अखण्ड नहीं होगा, इसलिये जो चिंतन तुमको अभीष्ट है, उसको होने दो । करने का आरंभ करेंगे तो करने का अंत भी होगा।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि "भैया चिंतन करो मत, चिंतन को होने दो।" होने वाला चिंतन आपके पास है कि नहीं है ? होने वाला चिंतन आपके पास है। किसका चिंतन हो रहा है भाई ? तो परिवार का, कुटुम्ब का, शरीर का सामान का, सम्पत्ति का, पद का चिंतन हो रहा है। होने वाले चिंतन से आप अपरिचित नहीं हैं। सब समय हो रहा है। बैठे-बैठे, लेटे-लेटे, चलते-चलते, खाते-पीते हो रहा है। किसका चिंतन हो रहा है ? नाशवान का चिंतन हो रहा है। जिसमें आसक्ति हो गई है, उसका चिंतन हो रहा है। जिसके मिट जाने का भय है, जिसकी प्राप्ति का लालच है, उसका चिंतन हो रहा है।

साधक जन की माँग यह है, कि नाशवान् का चिंतन मेरे भीतर से निकल जाये। कैसे निकलेगा भाई ? जो सदा के लिये रहने वाला नहीं है, उसकी महिमा अस्वीकार करदो। जो नाशवान् है उसको जीवन का सहारा मत बनाओ। जिसने आज तक संतोष दिया नहीं उसकी कामना, उसकी ममता छोड़ दो । जिस चिंतन को आप नापसन्द कर रहे हैं। वह चिंतन खत्म हो जायेगा। सत् चिंतन चाहते हैं, भगवत् चिंतन चाहते हैं तो जिन-जिन कारणों से इस समय हम

लोगों के मस्तिष्क में संसार का चिंतन चल रहा है, वही-वही उपाय भगवान के प्रति कर लेना होगा। जिस कुटुम्ब को आपने अपना माना, उसका चिंतन हो रहा है। अब आप चाहते हैं कि उसका चिंतन न हो, तो उसको अपना मानना छोड़ दीजिये। जिस परमात्मा के चिंतन को आप चाहते हैं कि वह होने लगे, तो उस परमात्मा को अपना करके स्वीकार कीजिये। कैसे अपना कहें ? दिखाई तो देता ही नहीं है। बड़ी बढ़िया पहेली है। बड़ा जबरदस्त ठोस सत्य है। क्या जाने उन्होंने क्यों ऐसा किया ? लेकिन कर रखा है। क्या कर रखा है ? कि जो देखने में आया, सुनने में आया, जो समझने में आया, वह पकड़ में नहीं आया। शरीर में युवावस्था देखने में आती है, पर पकड़ में रहती है क्या ? ठहराने से ठहरती है क्या ? तो ऐसी चीज जो देखने में आये, लेकिन रुके नहीं, संतजन कहते हैं कि उसका सहारा छोड़ दो, उसको अपना मानना छोड़ दो। क्या करें उसका ? जल्दी-जल्दी उसका सदुपयोग कर लेना । युवावस्था में शरीर में खूब बल रहता है। जब तक वह बल खत्म न हो जाये, काल की अग्नि में वह जल न जाये, काल की गति से वह मिट न जाये; उसी युवावस्था के बीच में बहती गंगा में हाथ धो लो। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि भाई, युवावस्था तो निकलती ही जा रही है। ठहराने से ठहरेगी नहीं, रोकने से रुकेगी नहीं । इसलिये जब तक वह है तुम्हारे पास, तब तक जल्दी-जल्दी युवावस्था की सामर्थ्य को लेकर असमर्थों की सेवा के द्वारा चित्त की शुद्धि करलो। शुद्धि जो होगी, वह आपके संग शरीर के नाश के बाद भी रह जायेगी।

तब क्या होगा ? कि जिस तरह से धन को अपना माना तो धन का चिंतन होने लगा; पद को अपना माना तो पद का चिंतन होने लगा। उसी तरह से बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना मानेंगे, तो चिंतन होने लगेगा। अब जो चिंतन होने लगता है, वह अखंड रहता है, मिटता नहीं है। कभी नहीं मिटता है।

चिंतन होने लग जाये, इसका उपाय क्या है ? कि जिसके चिंतन को निरन्तर बनाये रखना चाहते हो, उसको अपना मानो। जो देखा हुआ मेरे सामने आया, वह मेरी पकड़ में नहीं आया। इसलिये परमात्मा

को देखेंगे, तब मानेंगे, ऐसा मत सोचो। मानोगे, तो देखने में आ जायेगा, नाशवान् आँखों से नहीं, दिव्य दृष्टि से। दिव्य दृष्टि खुलेगी तो वह सदैव अपने लिये, अपने पास ही अपने अनुभव में आता रहेगा। प्रेम का आदान-प्रदान होता रहेगा, कभी मिटेगा ही नहीं, कभी छूटेगा ही नहीं, कभी हटेगा ही नहीं। वह दर्शन भी दिव्य है और देखने के लिये जो दृष्टि मिलेगी, वह दृष्टि भी दिव्य है और दोनों के बीच प्रेम का आदान-प्रदान भी दिव्य है

जिसका कभी नाश ही नहीं होता है, न पूर्ति होती है, न क्षति होती है, जिसमें नित-नव रस रहता है- वह भगवत् चिन्तन होने लगेगा, कब ? जब उनको अपना मानेंगे तब, जब उन पर अपने को समर्पित करेंगे, जब उनके आश्रित होकर रहना पसन्द करेंगे, जब उनके प्रेम को ही जीवन का लक्ष्य बनायेंगे, तब वह चिन्तन होने लगेगा ! होने लगेगा !! तब तो सब काम पूरा हो जायेगा, फिर उसके बाद कुछ करणीय शेष नहीं रहता। वह चिंतन अपने आप में इतना मधुर होता है, वह स्मृति इतनी सजीव होती है कि मैं तो सभी प्रयासों का और सभी साधनाओं का पूर्ण होना मानती हूँ, अगर भीतर में वह स्मृति जाग्रत हो जाए तो। फिर उसके बाद तो साधक को कुछ करना ही शेष नहीं रहता। वह इतनी जोरदार होती है कि साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस स्मृति में ही समा जाता है। भगवत् चिंतन और भगवत् स्मृति के अतिरिक्त उस साधक में और कुछ शेष रह ही नहीं जाता। ऐसा हो जाता है।

अब शान्त हो जाइये !

(55)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग मानव हैं । मानव होने के नाते साधक हैं और साधक होने के नाते हम सभी भाई-बहनों को इसी वर्तमान में सफलता मिलनी चाहिए। इस दृष्टि से अपनी वर्तमान दशा पर विचार किया जाये। वर्तमान दशा कैसी है ? वर्तमान दशा ऐसी है कि शरीर जो अपने पास मालूम होता है, उसकी सुरक्षा, उसके भरण-पोषण की चिंता हमें रहती है और उसको सँभाल के रखना हम लोग अपना दायित्व समझते हैं।

भोग बुद्धि को छोड़ दीजिये। भोग बुद्धि तो प्राणी संज्ञा के लिए उचित है। साधक के लिए भोग बुद्धि की बात नहीं है। लेकिन शरीर की सेवा इस दृष्टि से करना कि उसको सँभाल कर रखना है और साधन-सामग्री के रूप में उसका उपयोग कर लेना है। इस दृष्टि से भी शरीर की रक्षा, सेवा और सँभाल हम करते हैं, परन्तु अन्य शरीरों के प्रति जो हमारा व्यवहार रहता है, उसमें बड़ा फर्क है। ज्ञान की दृष्टि से स्वामीजी महाराज हमें याद दिला रहे हैं कि अगर देखे हुए दृश्य से तुम अपना सम्बन्ध नहीं मानते हो, असंख्य-असंख्य शरीरधारी तुम्हारी आँखों के सामने से होकर गुजरते हैं उनसे तुम सम्बन्ध नहीं मानते हो, तो एक शरीर से सम्बन्ध क्यों मानते हो ?

जैसे अन्य शरीरों से हम सभी स्वभाव से असंग रहते हैं। उसी प्रकार एक शरीर, जो अपने पास है इससे भी असंग रहते तो काम बन गया होता। योग सिद्ध हो जाता। अब विचार करके देखिये, कि जिस समय आप विशेष प्रकार की मुद्रा, विशेष प्रकार के आसन में बैठकर विशेष प्रकार से शक्तियों को केन्द्रित करना चाहते हैं, उसमें तकलीफ दूसरे शरीरों के कारण से होती है कि एक शरीर जिसको लेकर के बैठे हैं उसी से होती है? उस एक से ही होती है। उसी में उथल-पुथल मच रहा है। वह ही परेशान कर रहा है और बाकी दूसरे भाई-बहनों के मन में क्या उथल-पुथल मच रही है उससे अपने को कोई परेशानी

नहीं होती है। तो योगवित् होने में बाधा इस एक माने हुए शरीर के कारण है, अन्य शरीरों के कारण नहीं है।

एक बार मैं स्वामीजी महाराज से शिकायत कर रही थी कि महाराज ! मन की हलचल बन्द नहीं हुई। ऐसा है, ऐसा है-सब सुनाया करती थी उनको । तो वे कहने लगे कि कितने मनों में कितने चिंतन चल रहे हैं ? असंख्य-असंख्य भाई बहनों के मन में तरह तरह की उथल-पुथल मची हुई है तो सबकी चिंता क्यों नहीं करती हो ? एक के पीछे क्यों पड़ी हो ? सोचने में आता है ?

देखो, कि समाधिस्थ होने में, योगवित् होने में, भगवान का ध्यान करने में बाधा अगर महसूस होती है अपन लोगों को बाहरी-भीतरी कारणों से, तो उस एक ही शरीर को आधार बना करके होती है। उस उलझन को मिटाने के लिए स्वामीजी महाराज ने उपाय बता दिये हैं।

प्रारम्भिक स्तर पर सत्संग के प्रकाश में हम लोगों ने परम शांति, परम स्वाधीनता, परम प्रेम को लक्ष्य माना। योगवित् होना, तत्त्ववित् होना, भगवत् भक्त होना-अपना लक्ष्य माना। इस लक्ष्य की पूर्ति में बाधा क्या है ? उस बाधा को मिटाने का उपाय स्वामीजी महाराज बता रहे हैं।

वे कहते हैं कि जैसे अन्य शरीरों से तुम तटस्थ रहते हो, असंग रहते हो, उसी प्रकार से एक शरीर, जिसको तुमने अब तक अपने पास समझा था, अपना माना था, उससे भी असंग रहो, तो तुम्हारी समस्या हल हो जाये। योगवित् होने में आसानी हो जाये, सहूलियत हो जाये, स्वाभाविक हो जाये। अगर ऐसा नहीं कर सकते तो और स्थूल स्तर पर जाओ। यह तो दार्शनिक आधार हुआ। अब भौतिकवाद के दर्शन का आधार ले लो। जगत् को जो सत्य मानता है उसको क्या करना चाहिए ? उसको यह विचारना चाहिए कि क्या एक ही शरीर का नाम जगत् है ? या जितने शरीर बनाये गये हैं, सबके समूह का नाम जगत् है ? जगत् शब्द में सब शरीर शामिल हैं। तो अगर भौतिकवाद की दृष्टि से ही आप साधना में आगे बढ़ना चाहते हैं, तो इतना सा अपना

विस्तार कर लीजिये कि जैसे एक शरीर अपना मालूम होता है, उसकी सुरक्षा और उसके भरण-पोषण का ध्यान अपने को है, वैसे ही अनेकों शरीरों को भी अपना मानना चाहिये।

अब आप कहेंगे कि एक ही को खिलाने-पिलाने की चिन्ता करते करते जिन्दगी खत्म हो गई, सिर के काले बाल सफेद हो गये, अब सब शरीरों को अपना मान कर बैठें तो आफत हो जायेगी, तो आफत नहीं हो जायेगी। जो किसी न किसी नाते से, जगत् के नाते से, भौतिकवाद के नाते से, सभी को अपना मान लेता है उस पर सबको खिलाने की जिम्मेदारी नहीं आती है। उसके पास जितनी सामग्री आयेगी उतनी बाँट देने की जिम्मेदारी रहेगी, उससे ज्यादा नहीं।

लेकिन एक बड़ा भारी विस्तार उसके हृदय का हो जाता है-कि वह किसी भी शरीर के प्रति हानिकारक संकल्प अपने में नहीं रखेगा। सब अपने हैं। सबकी रक्षा अभीष्ट हो गई। सबका भला अभीष्ट हो गया। सहायता तो वह सीमित ही कर पायेगा और सीमित व्यक्तियों से ही उसका सम्पर्क जुट पायेगा, लेकिन वह अपने भीतर में यह सद्भाव रखेगा कि सबका भला हो, सब सुखी रहें। सबका भरण-पोषण हो, सबका कल्याण हो, सब साधकों को सिद्धि मिले, सब भक्तों को भगवान मिले। इस प्रकार की एक सद्भावना उसके भीतर बसेगी। इसका शुभ परिणाम यह होगा कि राग-द्वेष की बीमारी चली जायेगी।

एक को अपना और बाकी सबको पराया मानो, एक के नाते से दो-चार बच्चों को अपना और बाकी सबको पराया मानो, मोह के नाते से एक कुटुम्ब के दस-दस व्यक्तियों को अपना और बाकी सबको पराया मानो-ऐसा मानने का फल क्या होता है ? कि जिनसे मोह का सम्बन्ध मान लिया है, उनके प्रति राग हो जाता है, और जब राग रहेगा तो उससे प्रेरित होकर बहुत से काम अपने को इस प्रकार के करने पड़ेगें या ऐसे करने की प्रवृत्ति बन जायेगी कि द्वेष की उत्पत्ति के बिना रह नहीं सकते। तो कहीं राग हो गया कहीं द्वेष हो गया। जिस हृदय

में प्रेम की गंगा लहरानी चाहिए उस हृदय में राग और द्वेष की अग्नि जल रही है तो शान्ति कैसे मिलेगी? शान्ति नहीं आयेगी तो योगवित् कैसे होंगे ? योगवित् नहीं होंगे तो तत्व का बोध कैसे होगा ? बोध नहीं होगा तो परम-प्रेम की अभिव्यक्ति कैसे होगी ?

यह जीवन का एक क्रमिक विकास है। भौतिकवाद की दृष्टि से जगत् के नाते सभी को अपना मानो। प्यास लगी है, एक शरीर को जल की जरूरत है, उसकी जरूरत आप पूरी कर रहे हैं तो अन्य शरीरों को भी जल की जरूरत है। आपके पास अवसर है, सामर्थ्य है, जल है। परिस्थिति ऐसी है कि आप दूसरे शरीर को भी जल दे सकते हैं तो दीजिए। सेवा तो सीमित ही बनेगी, लेकिन भाव रहेगा असीम। भौतिकवाद के नाते से, भौतिक दर्शन के आधार पर अगर हम शरीर को सत्य मानते हैं और उसकी सेवा को अपनी साधना मानते हैं, तो एक शरीर और अन्य शरीरों में भेद रखने से काम नहीं चलेगा। जगत् के नाते सभी अपने हैं, इस सत्य को स्वीकार करिये।

अध्यात्मवाद की दृष्टि से, भौतिकवाद से थोड़ा ऊपर उठिये। अध्यात्मवाद की दृष्टि से आप विचार करेंगे तो दार्शनिक दृष्टिकोण आपके सामने यह आयेगा कि 'दृश्य' मात्र से त्रिकाल में भी मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। न पहले था, न आज है न आगे रहेगा। यह जो एक हाथ दिखाई देता है, यह 'दृश्य' है कि 'स्व' है ? दृश्य है। अन्य दृश्य जो दिखाई दे रहे हैं, विविध प्रकार की मूर्तियाँ मेरे सामने विराजमान हैं-इनसे मेरा नित्य सम्बन्ध नहीं है। है क्या ? नहीं है। तो अध्यात्मवाद की दृष्टि से जीवन का सत्य यह है कि किसी भी वस्तु से, किसी भी व्यक्ति से, किसी भी शरीर से आपका त्रिकाल में भी सम्बन्ध नहीं है। इस सत्य को स्वीकार करो तो सभी काम बन जाये और इतनी भी हिम्मत न होती हो कि भाई कैसे करें ? तो फिर तीसरा एक और साधन है। उसमें, आस्तिकता का आधार, सर्व उत्पत्ति का आधार कोई है, सर्व प्रतीति का प्रकाशक कोई है। उसको हमने देखा नहीं है, जाना नहीं है, अनुमान लगाते हैं। क्यों लगाते हैं ? इस आधार पर अनुमान लगाते हैं कि कोई भी उत्पत्ति बिना आधार के नहीं होती।

इस समग्र उत्पत्ति का आधार कोई होगा तो जरूर ? पश्चिमी दर्शनकार भी इस बात को मानते हैं कि बिना कारण के कार्य नहीं होता है। अगर कोई कार्य दिखाई दे रहा है, तो उसके पीछे कोई कारण जरूर है। तो Cause के बिना effect नहीं होता। कारण के बिना कार्य नहीं होता। आधार के बिना उत्पत्ति नहीं होती। प्रकाश के बिना प्रतीति नहीं होती। यहाँ तक तो अपनी reasoning (अपना तर्क) लगा लीजिये।

अब उसके बाद विश्वास का नम्बर आयेगा, कि होगा तो जरूर, लेकिन उसका परिचय नहीं है। उसको हमने देखा नहीं है। वह जानने में नहीं आता है। तो आस्तिकवाद का आधार जिन साधकों ने जीवन में लिया, उन्होंने कहा कि सोचो मत कि वह कहाँ है? और कैसा है ? अगर तुम अपने को उत्पत्ति मानते हो तो अपने उद्गम को तुम जान नहीं सकते।

अगर तुम अपने को कार्य मानते हो, तो अपने कर्ता को तुम जान नहीं सकते। जिसमें से इन आँखों की रचना हुई है, वे आँखें उसको नहीं देख सकतीं। इसलिये वह दिखाई नहीं देता है। तो बिना देखे, बिना जाने, एक आधार हम लोगों के पास है कि जिससे हम उसकी सत्ता को स्वीकार कर सकते हैं।

वह कौन सा आधार है ? कि हमारे व्यक्तित्व में विश्वास करने का एक स्वभाव है। दुनिया की बहुत-सी बातों को हम लोगों ने बिना जाने मान लिया है। अब किसी व्यक्ति का कोई नाम ले लीजिये। एक नाम है देवकी । यह नाम कोई ज्ञान के आधार पर है या सुना हुआ मान लिया ? मान लिया न। जब होश हुआ, जब चलने फिरने लगे, जब पाठशाला में पढ़ने गये, जब नाम लिखने का समय आया तो मालूम हुआ कि यह नाम है। तो खोजा ! कि नाम क्या होता है ? यह क्यों है ? इसको छोड़कर दूसरा क्यों नहीं है ? खोजा तो मालूम पड़ा कि जब यह शरीर बना नहीं था तब यह नाम नहीं था। जब यह शरीर नाश हो जायेगा, तब यह नाम नहीं रहेगा। तो ऐसे छान-बीन की कि

बिना छान-बीन किये मान लिया ? मान लिया ! तो मान लेने का स्वभाव हम लोगों का है।

भाव-पक्ष, हृदय-पक्ष, श्रद्धा-विश्वास का पक्ष-मनुष्य के व्यक्तित्व का एक बहुत ही आवश्यक और सरस पहलू है। हमें तर्क के साथ-साथ सरसता भी पसन्द आती है। प्रेम का भाव भी पसन्द आता है। श्रद्धा-विश्वास भी पसन्द आता है; क्योंकि हमारे व्यक्तित्व में यह अनिवार्य रूप से है। स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि भौतिक दर्शन के आधार पर सभी को अपना मानो। अध्यात्मदर्शन के आधार पर सभी से असंग हो जाओ। और ये दोनों तुमको जँचते न हों, यह भी संभव है, क्योंकि अलग-अलग व्यक्ति की बनावट अलग-अलग है, परन्तु कहीं न कहीं तो तुम्हें आधार लेना पड़ेगा।

तो भाई आस्तिक दर्शन का अनुसरण करो। उसमें क्या है ? कि सारी उत्पत्ति का एक आधार है। सारी सृष्टि का एक मालिक है जिसको भक्तजन भगवान कहते हैं। तो भगवत् नाते से सभी शरीरधारियों को अपना मानो। प्रभु तुम्हारे अपने हैं। उनके अपनेपन को जीवन में सजीव करना चाहते हो तो मानलो कि वे नित्य निरन्तर विद्यमान हैं तो नित्य विद्यमान अपना कोई परम- प्रेमी हो और वह सब समय अपने साथ रहता हो, तो प्रेम और आनन्द की कभी कमी हो सकती है ? जी, मीराजी ने कह दिया-"जाके पिया परदेश बसत हैं, लिख-लिख भेजत पाती। मेरे पिया मोरे हृदय बसत हैं, दरस करूँ दिन राती ।"

आनन्दित हैं वह दिन-रात। क्यों ? क्योंकि उनका प्रीतम उनके हृदय में वास कर रहा है। एक दूसरी जगह कहा है उन्होंने- "पतिया तो सखी तब लिखूँ-जो पिय होय विदेश। मन में तन में नयन में ताको कहा संदेश ।"जो मन में, तन में रम रहा है उसको संदेश क्या भेजना है ?

भौतिक दर्शन के नाते सबको अपना मानो। अध्यात्म दर्शन के नाते किसी से त्रिकाल में भी मेरा सम्बन्ध नहीं है, इसलिए सबसे सम्बन्ध विच्छेद कर लो और प्रभु के नाते आस्तिक दर्शन के आधार

परभी सबको प्रभु का मान लो। तो जिन प्रभु के प्रेम की आपको अभिलाषा है, जिस प्रेम की अभिव्यक्ति के बिना दुनिया में रहना भी हम लोगों को सरस नहीं लग रहा है, उस प्रभु को अपना मानो और उनके नाते सभी को अपना मान लो।

भगवान का नाम लेना, भजन गाना, उनका कीर्तन करना, उनका चित्र देखना, उनके मन्दिर में जाना, उनकी कथा सुनना, उनके चरित्र की लीला देखना कुछ सरस तो लगता है। एक दम से अपने को वंचित हम लोग नहीं पाते हैं। लेकिन न दुनिया में इतना रस मिला कि इसी में हम रम जाते, न इससे हट कर परमात्मा का प्रेम ही इतना उमड़ा कि शरीर और संसार को भूल जाते। यह दशा है, अब इस दशा से आगे चलो।

स्वामीजी महाराज कहते हैं कि यह उपाय तुम्हारे लिए सहज है। बाल-बच्चे आँखों के सामने खेलते कूदते दिखाई देते हैं तो तुम्हारा यह कहने का साहस नहीं होता कि इनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है। बड़ा कठिन लगता है तो ठीक है। सम्बन्ध तोड़ने का साहस नहीं है तो फिर, परमात्मा जो सृष्टि का मालिक है, जो जगत्-पिता है, जगत्-जननी है उनके नाते से आस्तिक दर्शन के आधार पर सभी को परमात्मा को मान लो कि ये सब प्यारे के प्यारे हैं।

परमात्मा का प्रेम सब भाई-बहनों को चाहिए। समर्थ को भी चाहिए, असमर्थ को भी चाहिये। बीमार को भी चाहिए, नीरोग को भी चाहिए। श्रीमान को भी चाहिए, गरीब को भी चाहिए। दुःखी-सुखी जैसी भी बाहर की परिस्थितियाँ हों, इनसे कोई अन्तर इस आवश्यकता में नहीं आता।

परमात्मा का प्रेम, वह अविनाशी प्रेम रस है, जो कभी घटता नहीं है, मिटता नहीं है जो जन्म-जन्मान्तरों के सब अभावों को दूर कर देता है, ऐसे प्रेम रस की आवश्यकता हम सब भाई-बहनों को है उस प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए स्वामीजी महाराज ने सलाह दी कि भौतिक दर्शन मानो, आध्यात्मिक दर्शन मानो, आस्तिक दर्शन मानो-इसमें से

किसी एक सत्य को तुम्हें मानना पड़ेगा इन तीनों बातों को छोड़कर कुछ और मानेंगे तो उसको सत्य का आधार नहीं होगा। जाति के नाते एक मानो। वर्ग के नाते एक मानो देश के नाते एक मानो। समूह के नाते एक मानो। ये सब सीमित सम्बन्ध हैं और राग-द्वेष को उत्पन्न करने वाले हैं।, हृदय के रस को सुखाने वाले हैं। और आप सच मानिये, मनोविज्ञान के अध्ययन का एक बहुत बड़ा लाभ अपने जीवन पर मैं यह मानती हूँ कि यह बात मेरे ठीक समझ में आ गई कि यदि जीवन का रस सूख गया तो न दुनिया में रहने में अच्छा लगेगा, न दुनिया को छोड़ने की हिम्मत आयेगी और न प्रभु का प्रेम उपजेगा। जीवन का रस अगर सूख गया तो राग-द्वेष रहेगा और जीवन की सरसता कम हो जायेगी और मस्तिष्क में व्यर्थ चिंतन का तूफान उठता रहेगा।

इसलिए सत्संगी भाई-बहनों के सामने बड़ा महत्वपूर्ण प्रश्न है। कि भाई, किसी भी मूल्य पर जीवन के रस को सूखने मत दो। राग-द्वेष को अपने जीवन में कोई स्थान मत दो। उसे मिटाने का एक ही उपाय है कि चाहे भौतिक दर्शन का सत्य स्वीकार करो, चाहे आस्तिक दर्शन का सत्य स्वीकार करो। सत्य की स्वीकृति के बिना राग-द्वेष का दोष मिटेगा नहीं। सत्य की स्वीकृति के बिना साधन की अभिव्यक्ति होगी नहीं। प्रभु के नाते सब अपने हैं-यह बात बहुत अच्छी है। यह सत्य भी है और आपके जीवन की शुष्कता, नीरसता को मिटाने वाली भी है। पहले लोग हमसे पूछते कि आप कितने भाई-बहन हैं तो मैं कहती कि भाई संसार का एक ही माता पिता है। दो चार माता-पिता हों तो मैं बताऊँ कि मेरा अपना कौन है, और पराया कौन है।

सोचो न। यह हाड़-मांस की बनी, छोटी सी आकृति। इसके नाते से भाई-बहनों में भेद करोगे। एक विशेष आकृति से सम्बन्धित जो होगा वह मेरा, बाकी सब किसका ? तो ऐसा तो नहीं है। अगर आप साधक हैं, अगर आप सत्य के शोधक हैं, अगर आप सत्य का प्रयोग जीवन पर करने चले हैं, तो इतनी सी बात भी अगर स्वीकार नहीं करेंगे कि सभी मेरे अपने हैं, तो विकास कैसे होगा ?

यह सृष्टि अनन्त परमात्मा की सृष्टि है और उनके लिए एक विशेष बात हम लोगों ने सुनी है कि वह अनन्त माधुर्यवान् हैं। वह सारी सृष्टि को, सब शरीरधारियों को, जिनको उन्होंने उत्पन्न किया है, सबको अपनी मधुरिमा में रखते हैं और उससे पालते हैं उस अनन्त माधुर्यवान् के प्रेमी होने आप चले हैं, तो एक भी प्राणी अगर आप को पराया मालूम होता है और उसके अहित का संकल्प आपके भीतर उठता है तो चित्त की अशुद्धि कैसे मिटेगी ? माँ-बाप के पाँच बच्चे हैं। पाँच में से चार को आप भाई मानकर गले लगाइये और एक आपका कहना नहीं मानता है, तो उसको दुश्मन मानकर मारने चलिये, तो माँ-बाप को प्रसन्नता होगी क्या ? नहीं होगी।

दुनियावी माँ-बाप इस बात को नहीं सह सकते हैं, तो वह अनन्त माधुर्यवान् हमारी इस हिंसावृत्ति, हमारी कठोरता को कैसे सहेगा ? इसलिए इस दार्शनिक सत्य को साधकों को जीवन में मूल आधार के रूप में स्वीकार करना ही चाहिये। एक शरीर अपना मानो, तो अन्य शरीरों को भी अपना मानो। औरों से विरक्ति हो गयी तो इससे भी विरक्त हो जाओ। एक को बचाकर के बाकी सब पराये हैं, तो काम नहीं बनेगा और इतना सोचते-समझते नहीं बनता है तो कोई बात नहीं, सीधी-सीधी बात मानलो। जगत् पिता की संतान सभी हैं, मैं भी हूँ, उनके नाते सभी अपने हैं। तो जो साधक, परमात्मा के नाते सबको अपना मानने लगता है उसमें एक बड़ी विशेषता आ जाती है। इस भावना से हृदय ऐसा शुद्ध हो जायेगा, कि जिस किसी पर दृष्टि पड़ेगी तो सोचोगे कि यह किसका है, मेरे प्यारे का है, मेरे प्रभु का है। यह तो भगवान का है। यह उसका है, जिसका प्रेमी होकर मैं रहना चाहता हूँ। यह तो उसका है, जिसके प्रेम की मैं भिक्षा मांगता हूँ। यह तो उसका है, जो सबका रक्षक है। यह तो उसका है, जो मेरे भीतर-बाहर विद्यमान है। यह तो उसका है, जो उसमें भी विद्यमान है। तो परमात्मा का प्रेम हम लोगों को सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य करने वाला है।

उस प्रेमी परमात्मा के नाते से सभी भाई-बहिनों को अपना मानोगे तो जीवन में प्रीति बढ़ेगी ? शरीर की आसक्ति के नाते जब

सम्बन्ध बाँधते हो, मोह के नाते मानते हो, तो आसक्ति बढ़ती है, नीरसता बढ़ती है, विकार बढ़ते हैं और परम पवित्र प्रेम के अथाह सागर परमात्मा को अपना मानो और उनके नाते सबको अपना मानो तो ह्रदय में बहुत ही पवित्रता आती है और प्रेम बढ़ता है। आदर बढ़ता है। चित्त भी हर्षित होता है।

मेरे जीवन में बहुत ही नीरसता थी। मेरे दुःख से द्रवित होकर, करुणित होकर महाराज जी ने एक मन्त्र पढ़ाया। कहा कि देवकीजी ! परमात्मा के लिए प्रेम की वृद्धि कराने का एक बड़ा अच्छा उपाय यह है कि संसार के सभी प्राणी उसके प्यारे हैं, तो प्यारे की प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा करो। किस उद्देश्य से ? कि सृष्टि की सेवा करोगी, प्राणियों को आराम पहुँचाओगी तो प्राणियों के जो पिता हैं, वे प्रसन्न होंगे। उनकी प्रसन्नता का एक बड़ा भारी प्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ता है।

वे जब प्रसन्न होने लगते हैं तो उनके आनन्दस्वरूप में आनन्द की वृद्धि होने लगती है उस अनन्त स्वरूप परमात्मा में आनन्द की वृद्धि होने का अर्थ है कि बिना आँख, कान बन्द किये, बिना उनके दर्शन किए आपके भीतर अहं में ही आनन्द की लहर उमड़ने लगेगी और मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ-सब पर वह लहर फैलेगी। फिर क्या होगा ? कि आप जिसके पास बैठेंगे उसको भी आनन्द की लहर का अनुभव होगा।

आप जिसको छू देंगे उसमें भी बिजली की तरह आनन्द की लहर दौड़ जायेगी। ऐसा होता है। आज भी यह सत्य है। पहले भी यह सत्य था। आगे भी यह सत्य रहेगा। मैंने अनुभवीजनों के पास बैठकर इस सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव किया है और उनके मुख से सुना है। तो मुझे उन्होंने मंत्र क्या पढ़ाया? कहा कि देखो, तुम प्रेम की आराधना करो। प्रेम स्वरूप परमात्मा को रस देना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है। तो क्या-क्या करो ? कि बोलो तो प्रीतभरी वाणी से बोलो और आँखें खोलो तो प्रीत भरी दृष्टि से देखो, ध्वनि सुनो तो प्रीतभरे

कानों से सुनो और वस्तुओं का, व्यक्तियों का, जिस किसी से भी सम्पर्क हो, स्पर्श करो तो प्रेम भाव से स्पर्श करो। मैंने इसका अनुभव करके देखा है। मुझे तो अब यह एक वैज्ञानिक तथ्य प्रतीत होता है।

मैं पहले क्या करती थी ? कि अगर लिख रही थी तो जब लिखना खत्म हो तो उठाकर किताब को यों डाल दिया जमीन पर, यों जाकर कॉपी गिरे। ऐसे उठा-उठा करके डालती जाऊँ अटैची में, तो जब आवाज हो जाये तो महाराज जी के कलेजे में धक्का लग जाये। कहें कि आह ! पटक दिया तुमने ! ऐसे उठाकर पटक देती हो, चीज को। मेरी समझ में नहीं आए कि क्या बात है। बहुत दिनों के बाद ध्यान में आया कि हर वस्तु प्यारे प्रभु की है। हर वस्तु उनकी है, हर व्यक्ति उनका है, सारी सृष्टि उनकी है। वे प्यारे कितने प्यार से सबका ध्यान रखते हैं और उनका प्रेम तुम पाना चाहती हो और उनकी वस्तु के साथ ऐसा कठोर व्यवहार करती हो।

एक दूसरे संत प्रेमस्वरूप हैं। निरन्तर प्रेम रस में सराबोर रहते हैं। नाम लिये बिना मैंने आप भाई-बहिनों को खूब सुनाया है। अनेकों घटनाएँ उनके जीवन की हैं। मैंने बताया कि स्वामीजी महाराज ने मुझको ऐसे-ऐसे सिखाया कि प्रीतभरी दृष्टि से जगत् को देखो और देखने का अवसर न हो तो क्यों देखते हो ? आँखें बन्द कर लो। भीतर में वह अपना प्यारा है। उसके प्रेम की प्रतीक्षा में बैठ जाओ। दुनिया को देखते ही काहे को हो ? प्रीतभरी दृष्टि से देखो, प्रीतभरे कानों से सुनो, प्रीतभरी वाणी से बोलो-तो तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति का पुट लग जाये।

वे सन्त कहने लगे कि जब मैं छोटा था तो एक बार किसी बात से बिगड़ गया। दौड़ कर मैं कमरे में घुस गया और खूब जोर से दरवाजा बन्द कर दिया, बड़ी जोर से आवाज आई। तो उनके पिता, वह तो कोई संत नहीं थे लेकिन सद्गृहस्थ थे, सज्जन पुरुष रहे होंगे, अथवा पिता को प्रेरित करके भगवान ने ही उनको संवाद दिया होगा। बाद में जब कमरे से निकले तो पिता ने खूब प्यार किया उनको और

कहने लगे, "हृदय में इतनी कठोरता रखते हो, इतने झटके से दरवाजा बन्द किया जाता है? क्या दरवाजे को इतना आघात लगाया जाता है ? उन्होंने कहा कि मेरे ध्यान में आ गयी बात। तो स्वामीजी ठीक कह रहे हैं। बहुत छोटी-छोटी बातें हैं जिन पर हमारा ध्यान नहीं जाता। इतना दुःख होता है मुझे। अपने मिथ्या अभिमान को पालने के लिए कितने कटु वचनों का प्रहार आदमी कर डालता है। मैं तो बहुत बड़ी हिंसा मानती हूँ इसको।

किसी बात से, किसी व्यवहार से अपने भीतर किसी से नाराजगी हो गई। तो जिस हृदय में प्रेम की लहर आनी चाहिये थी उस हृदय में क्रोध-क्षोभ का आगार भर के बैठे हैं। अरे भाई ! जिस पर तुम क्रोध कर रहे हो, उसको तो घाटा कम लग रहा है। तुम उस प्रेमास्पद के प्रेम की मधुर लहरियों से वंचित होकर बैठे हो तो घाटा तो तुमको लग रहा है कि दूसरों को ?

मैं आप भाई-बहिनों को, जो समाज में रहते हैं, परिवार में रहते हैं उनको यह सुझाव दे रही हूँ, स्वामीजी महाराज ने मुझको यह समझाया था कि जो किसी के साथ भी कठोरता का व्यवहार करेगा उसके हृदय में प्रभु की लहर आयेगी ही नहीं। इसका मतलब यह नहीं है कि भगवान नाराज हो गये हैं कि उन्होंने अपने प्रेम का दरवाजा बन्द कर दिया है। ऐसा नहीं है। उधर से कुछ बन्द नहीं होता है। लेकिन आपके कठोर व्यवहार से, कठोर वचन से, राग-द्वेष के विकार से आपका ही दरवाजा बन्द हो गया है। कठोरता ही छा गयी है कि उधर से अमृत बरस रहा है और आप पर कोई प्रभाव नहीं डाल रहा है। इसलिए आप सावधान रहियेगा।

अगर ईश्वरीय प्रेम की अभिलाषा है आप भाई-बहिनों को, तो प्रीतभरी दृष्टि से देखना आरम्भ करो। मीठी वाणी बोलना आरम्भ करो। महाराजजी ने बहुत बढ़िया बात बताई, देवकी जी, जब तुम प्रीतभरी दृष्टि से दृश्य जगत् को देखने लगोगी, जब तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति का पुट आ जायेगा, तब उस प्रेम-रस का पान करने के

लिये परम प्रेमास्पद प्रभु ही व्याकुल हो जायेंगे और अपने जगत् रूप को छिपाकर प्रेमास्पद रूप में प्रकट हो जायेंगे।

कितनी बढ़िया बात है। क्यों ? क्योंकि मानव हृदय का प्रेम उनको बहुत पसन्द है। अपने प्रेम के विस्तार के लिए उन्होंने भाव पक्ष और विश्वास पक्ष देकर हम लोगों को बनाया। जब उसका सदुपयोग आरम्भ करोगे जब तुम्हारी प्रत्येक प्रवृत्ति में प्रीति का पुट आ जायेगा तो उस प्रेम-रस को पान करने के लिए वो ही परमात्मा जो आज जगत् के रूप में दिख रहा है, इस विविध रूप को छिपाकर प्रेमास्पद के रूप में प्रकट होकर के तुम्हारे प्रेम का आदर करेगा, उसको ग्रहण करेगा। उससे आनन्द लेगा और आनन्द देगा। ऐसा आपने प्रेमी संतजनों के जीवन में सुना होगा।

सब प्यारे के हैं। यह तो primary (प्रारम्भिक) पाठशाला का पाठ है। फिर आगे चलोगे तो तुमको वे आँखें मिलेंगी कि सबमें प्रभु है, ऐसा दिखाई देने लग जायेगा। आरम्भ करो इससे कि सब प्यारे के हैं आगे चल कर के क्या होगा ? सबमें प्यारे हैं-यह दिखाई देने लग जायेगा फिर और भी प्रीति बढ़ेगी। तब क्या होगा ? सब छिप जायेगा और वही एक अकेला रह जाएगा। तो महाराज कहते हैं कि बड़ा आनन्द है। मैं हूँ और तुम हो, दोनों खूब आनन्द लेते हैं, देते हैं, आनन्द विहार कहते हैं और तीसरे की कोई बात नहीं है। प्रेमास्पद है और प्रेम है ! प्रेमास्पद और प्रेम है !! बस हो गया। उसी का सब स्वरूप। उसी की विभूति ! वही रह गया और बाकी सब कुछ गलकर प्रेम की धातु में समा गया। अब शान्त हो जाओ।

(56)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

संतवाणी में मैंने एक बहुत अच्छा वाक्य सुना
स्वामीजी महाराज को कुछ तकलीफ थी, दर्द हो

सब आस-पास बैठे थे। हमने कहा, महाराज जी बड़ा दर्द हो रहा है आपके। तो हँस के कहते हैं कि अरे भाई ! दर्द के बिना भी कोई जीवन है क्या ? दर्द के बिना कोई जीवन नहीं है। अरे भाई, प्रेमियों का जीवन कैसा होता है? जो स्वभाव से कोमल हृदय के होते हैं, प्रेमीजन होते हैं, उनका जीवन दर्द से खाली नहीं होता। या तो पीड़ितजनों की पीड़ा देखकर परपीड़ा से करुणित होते रहते हैं या प्रेमास्पद से मिलने के लिए व्याकुल रहते हैं तो विरह की वेदना हो या परपीड़ा की व्यथा हो, व्यथा ही तो जीवन है।

दर्द के बिना कोई जीवन है क्या ? बड़ा मजा आ गया सुनकर हम लोगों को। उनको शारीरिक कष्ट तो था ही लेकिन उसको कभी प्रधानता देते ही नहीं थे। तो हम सुन करके बहुत आनन्दित हो गये कि यह तो बहुत बढ़िया बात है।

प्रायः हम देखते हैं कि शरीरों के साथ सन्तजन, भक्तजन, उच्चकोटि के महापुरुष संसार में जब विचरण करते हैं तो उनका कोमल चित्त, उनका प्रेम भरा हृदय जगत् के दुःखियों के दुःख से द्रवित होता रहता है। सुख देखकर आनन्दित होते हैं और दुःखीजन का दुःख देखकर वे द्रवित होते हैं। तो दुःखियों का दुःख अगर हृदय में भर जाये, पीड़ितजनों का दुःख हम लोगों को अपनी पीड़ा मालूम होने लगे तो यह बहुत बड़ी साधना हो जाती है। जो हृदय से, परपीड़ा से पीड़ित होता है उसमें अपने व्यक्तिगत सुख भोग की वासना शेष नहीं रहती।

अब आप देखिये, कितने-कितने दिनों तक इन्द्रिय-दमन का अभ्यास करने के बाद भी यह शंका बनी रहती है कि कहीं दबी हुई कोई वासना उदित न हो जाये और साधना से हटा न दे। तो व्यक्ति को हमेशा के लिए बहुत जोरदार पहरा रखना पड़ता है।

मनोवैज्ञानिक अध्ययन में हमने मनुष्य के मस्तिष्क में यह एक विशेष क्रिया देखी कि उसके भीतर की दबी हुई अचेतन स्तर की बातों को चेतन स्तर पर आने से पहले एक censorship की छानबीन

करने वाली शक्ति का मुकाबला करना पड़ता है। वह शक्ति अपने आप यह देखती रहती है कि कौन-कौन सी भीतर की दबी हुई बात को उभर कर चेतना में आना चाहिये और कौनसी बात को कभी नहीं आना चाहिए। इस प्रकार से एक शक्ति मस्तिष्क में काम करती रहती है। बहुत सी अनुचित बातें जो कि चेतना में आ जायें तो मनुष्य उनको सह नहीं सकता-ऐसी अनुचित बातों को वह शक्ति भीतर ही भीतर दबा कर रखती है, बाहर आने नहीं देती है। इस अभ्यास के बल पर जब हम अपनी भोग-वासनाओं को उनके वेग को दबाने की कोशिश करते हैं तो वे दब जाते हैं और साधक को उनसे आगे निकलने का मौका मिल जाता है परन्तु यह स्थिति खतरे से खाली नहीं है। किसी भी समय उस शक्ति में थोड़ा-सा ढीलापन आ जावे तो दबी हुई अवांछनीय बातें प्रकट हो सकती हैं। Censorship थोड़ा शिथिल हो सकता है। उसकी क्रिया में कुछ बाधा पड़ सकती है। परन्तु भौतिक जगत् का रहने वाला व्यक्ति, शरीरों के साथ संसार में विचरण करता हुआ साधक हो करके यदि परपीड़ा के वरदान को अंगीकार करे तो उसको बड़ा लाभ होगा।

आज समाज में, परिवार में, देश में कितने दु:ख हम लोग देख रहे हैं, सुन रहे हैं। देश के किसी हिस्से में कुछ हो रहा है, किसी हिस्से में कुछ हो रहा है। कहीं धर्म के नाम पर, कहीं राष्ट्र के नाम पर, कहीं वाद के नाम पर कितना अनर्थ हो रहा है। कितने भाई-बहन हमारे दु:खी हैं। उनके लिए कुछ कर सकते हैं तो अवश्य करें। लेकिन यदि कुछ न कर पायें तो भी दुखियों का दु:ख अपने दु:ख के समान अपने हृदय में धारण करने की बात मनुष्यता के नाते स्वीकार कर लें तो भोग-वासनाओं का अन्त हो जाता है। इस तरह से दर्द को अपने जीवन में रखना बड़ा लाभकारी है।

आप देखिये दोनों ही तरह से काम बन गया। अगर समाज की पीड़ा से आप पीड़ित हो गये तो आप समाज को मदद दिये बिना रह नहीं सकेंगे तो सुखी-दु:खी की एकता हो जायेगी। आज की दशा कैसी हो गयी है ? मनुष्य ने मनुष्यता के लक्षण खो दिए हैं, क्या हुआ कि

सुखी वर्ग सुख भोगने में लग गया। तो प्रकृति में एक प्रतिक्रिया पैदा हो गई। जो अपने को दुःखी वर्ग कहता है वह सुखियों से दूर होने लग गया। तो मालूम होता है कि मनुष्यता कहीं रही ही नहीं, ऐसी दशा हो गयी और किसी न किसी रूप में हमारी इस स्वार्थ बुद्धि ने अनेकों प्रकार की विषमताओं और संघर्ष को पैदा कर दिया है। कोई बाहर के संघर्ष से परेशान है, भयभीत है तो कोई भीतर के संघर्ष से परेशान है, भयभीत है। इस तरह भय और चिन्ता के दुःख और हिंसा का चारों ओर साम्राज्य छा गया है। मानव समाज आज के युग में क्षत-विक्षत हो रहा है। केवल हिन्दुस्तान में ही नहीं, दूसरे देशों में भी बड़ी दयनीय दशा हो गयी है तो ऐसी दशा में क्या करें हम ?

मेरे दिल में देश के लिए दर्द है। धर्म के नाम पर, मजहब के नाम पर सबल व्यक्ति अपने बल का दुरुपयोग करके दुर्बलों को सता रहा है, तो यह पीड़ा मुझे सताती है। मेरे से जो हो सकता है सो मैं कर रही हूँ। साधु-सन्त भी कर रहे हैं। समाज सुधारक भी कर रहे हैं। जिससे जो बन पड़ता है, कह रहा है। चारों ओर दुःख हाहाकार देखकर दिल में दर्द तो है। यह दर्द बहुत ही कल्याणकारी हो जाये अगर इस दर्द को हम सब लोग ठीक प्रकार से देखें और उसके प्रभाव को अपने जीवन पर होने दें। यदि दुःखी जनों की पीड़ा हमारे भीतर प्रवेश कर जाये, तो हमसे सुख भोगा नहीं जायेगा। मुझे याद है जवाहर लाल जी जब पहली बार जेल गये थे तब मोतीलाल नेहरू इलाहाबाद में, आनन्द भवन में थे। सुख से भरा वह भवन था। उन्होंने सुना कि मेरा प्राणों से प्यारा पुत्र, आँखों का तारा जवाहर जेल में जमीन पर, कंकड़ पर सुलाया गया है तो मोतीलाल से आनन्द भवन में सुख दायक सेज पर सोया नहीं गया। कहने लगे कि हमारे सोने के कमरे में कंकड़ बिछाओ। मैं उस पर लेट कर देखूँगा कि मेरा प्यारा पुत्र जेल में किस प्रकार से सो रहा है। यह कल्पना नहीं है। सतयुग, त्रेता, द्वापर की कथा नहीं है। यह इस युग की घटना है और गृहस्थ और सुख वैभव में जिन्दगी बिताने वाले बाप की-कथा है।

जो बेटे का दर्द समा गया दिल में, तो आनन्द भवन में सुखद

सेज पर सोया नहीं गया। तो सुख की वासना गई कि नहीं गई ? इन्द्रियों का दमन करना पड़ा कि अपने आप छूट गया सुख। तो इस प्रकार की साधना, जिससे हृदय में से सुख की वासना निकल जाये घर-गृहस्थी वालों के लिए सुलभ है। घरों में, आस-पास में पड़ोसियों में दुःख देखने को मिलता है और अगर उधर से आँख न बन्द करो, हृदय को कठोर न करो तो सुख भोगा नहीं जायेगा। तो इस संसार में जो सचमुच जिन्दादिल व्यक्ति हैं उनका जीवन दर्द से खाली नहीं होता है।

बड़ा शुभ है वह। बड़ा कल्याणकारी है। बड़ा आनन्ददायक है। अनेकों गृहस्थों की कहानियाँ मैं आप लोगों को सुना चुकी हूँ कि जिन्होंने माने हुए सम्बन्ध के दुःख से द्रवित होकर, सुख भोगना छोड़ दिया तो वे बड़े शान्त हो गये, त्यागी हो गये, सन्त हो गये, मुक्त हो गये। तो हम लोगों ने जीवन में सुख के प्रलोभन में पड़कर मनुष्यता के सामान्य लक्षणों से भी अपने को वंचित कर लिया है। उसको भी भीतर दबा लिया है, इसलिए स्वभाव से विकास नहीं हो रहा है। एक हिस्सा तो यह हो गया।

उसके बाद महाराज जी कहते हैं कि भाई ! चाहे परपीड़ा से पीड़ित होकर द्रवित होते रहो और चाहे विरह की व्यथा में डूबते रहो, प्रेमी जनों को विरह की व्यथा में मिलन का आनन्द और मिलन के आनन्द में विरह की व्यथा अनुभव होती है। महाराजजी कभी-कभी यह वाक्य सुना देते थे "मिले रहे पर कबहूँ मिले ना।"

वह मिलन भी ऐसा है कि मिलने के बाद, हम दो मिल रहे हैं इस प्रकार का आभास ही नहीं होता। असीम से सीमित का मिलन, अनन्त से सान्त का मिलन, प्रेमास्पद से प्रेमी का मिलन। ऐसा अनोखा है, ऐसा अनोखा है कि महाराज जी कहते कि देखो भाई, प्रेम की जो विद्या है न, उसका गणित बड़ा विचित्र है, उसमें एक और एक मिल कर दो नहीं होते हैं, एक और एक मिल कर एक ही होता है तो इतनी एकता वहाँ होती है-स्वरूप की एकता, जातीय एकता, आत्मीय एकता। मैंने

अपने को समझाने के लिए यह ढंग अपनाया कि जैसे चुम्बक के पास अगर लोहे की कोई चीज ले आओ, छोटी से छोटी एक सुई भी ले आओ तो वह अपनी आकर्षण शक्ति से खींच कर उसको अपने में चिपका लेता है, ऐसे ही मनुष्य की तरफ से प्रभु के प्रति होने वाले आकर्षण की अपेक्षा, प्रभु की ओर से होने वाला आकर्षण असंख्य गुणा अधिक प्रबल होता है। मुझको प्रभु की कृपालुता से, प्रभु के प्रेम के प्रभाव से उनके आकर्षण का अनुभव हुआ है। मुझे तो वह प्रत्यक्ष लगता है कि मुझमें, एक-एक इकाई में और उस पूर्ण में शक्ति का बड़ा अन्तर है। वह तो शक्ति का अथाह सागर है, वह तो प्रेम का अथाह सागर है, वह तो अनन्त माधुर्यवान है। उसने अपने में से, अपने एक अंश से मुझको बनाया और मैंने अपनी भूल से उसके दिए हुए अनमोल तत्त्वों को संसार की आसक्ति से दूषित कर दिया, गन्दा कर दिया, धूमिल कर दिया। फिर भी, चूँकि अलौकिक ने अलौकिक तत्त्व से मुझको रचा, इसलिए मेरे भीतर से प्रेम का भाव जो है, वह मिटा नहीं शून्य नहीं हुआ। तो गंदा-सा आसक्ति में लिपटा हुआ, कामनाओं से दूषित, विकृत हुआ अहं लेकर हम उसके सामने आते हैं, तो संत ने साहस दिया कि डरो मत। अनुभवीजनों ने आश्वासन दिया कि चाहे तुमने अपनी जो भी दुर्गति कर ली हो, वे परम उदार सदा ही अपनी उदारता से तुमको क्षमा करने के लिए, अपनी मधुरता से शीतल करने के लिए तैयार हैं। बड़ा आश्वासन दिया गया मुझको, तो मैंने ऐसा पाया कि मनुष्य अपनी ओर से अनेक त्रुटियों से भरा हुआ होने पर भी जब अनन्त परमात्मा, प्रेम स्वरूप परमात्मा की ओर उन्मुख होता है तो उनके भीतर इतना घना आकर्षण है, इतना जोरदार उनकी ओर से खिंचाव है कि व्यक्ति फिर अपने सीमित अहंभाव को सुरक्षित नहीं रख पाता है।

वे व्यक्ति को खींचकर अपनी ओर ले लेते हैं। और इस रस के अभाव में नाशवान संसार में भटकने वाले को जब इसका मधुर आस्वादन मिलने लग जाता है, उस प्रेम रस के प्रवाह में वह डूबने लगता है तो धीरे धीरे करके उसका सीमित अहंभाव " मैं प्रेमी हूँ"-ऐसा

भासित होने वाला अहंभाव, मैं भगवान का भक्त हूँ"-ऐसा दिखाई देनेवाला अहंभाव जो है, उसकी सीमा टूट जाती है और प्रेमस्वरूप की विभूति में वह जाकर शामिल हो जाता है। फिर तो वह अपने को अलग अनुभव करता ही नहीं है। मिले हुए होने पर भी-मुझसे मिलन हो गया-ऐसा पता नहीं चलता और बिछुड़े हुए होने पर भी उनकी याद में, उस विरह की वेदना में वे स्वयं अपने आप ही रस रूप इतने घुले मिले होते हैं कि उनके विरह की वेदना भी उतनी ही रसमयी होती है कि जितना उनके मिलन का आनन्द। हम कब मिले और कब बिछुड़े-यह भक्तों को पता ही नहीं चलता। मिले हुए में भी मिलने जैसी सीमा नहीं है और बिछुड़े हुए में भी बिछुड़े हुए जैसी वियोग की दशा नहीं है। नीरसता नहीं है। बड़ा आनन्द का जीवन होता है वह।

महाराज जी कहते हैं कि भाई, दो ही दशायें तो सार्थक हो सकती हैं अगर जगत् पर दृष्टि पड़े तो उनके जगत् रूप को देखो। जहाँ-जहाँ पीड़ा दिखाई पड़े, उसको अपने लिए ग्रहण करो, पीड़ित के साथ तुम शामिल हो जाओ। उसकी पीड़ा के साथ अपने हृदय को मिलाकर उसकी सेवा करो, तो तुम्हारा जीवन सार्थक हो गया। किस प्रकार से सार्थक हो गया कि सबल और निर्बल की एकता हो गई तो समाज का संघर्ष मिट गया।

हर सामर्थ्यवान साधक में अल्प सामर्थ्य है तो क्या ? और विशेष सामर्थ्य है तो क्या ? सामर्थ्य का करोगे क्या भाई ? मृत्यु के पार कोई सामर्थ्य तुम्हारी जा नहीं सकती है तुम्हारे साथ। सुख भोगने में लगाओगे तो दुःख भोगने से बच पाओगे ? नहीं। मृत्यु के पार तो वह जायेगी नहीं और सुख भोग में उसका कोई उपयोग नहीं। तो सेवा के अतिरिक्त सामर्थ्य का और क्या उपयोग हो सकता है? कुछ नहीं। तो थोड़ी सी सामर्थ्य हो या बहुत सी हो, जगत् की ओर प्रीतिभरी दृष्टि फैलाइये।

अपनेपन की दृष्टि से जगत् को देखिये और जहाँ-जहाँ दुःख दिखाई देता हो, प्राप्त सामर्थ्य को बाँटते जाइये, तो पीड़ितजनों की

पीड़ा आपके हृदय में समा जायेगी और सुख-भोग की वासना सदा के लिए मिट जायेगी। इस प्रकार का साधन करने के लिए गृहस्थजनों, सामाजिकजनों को किसी विशेष परिस्थिति की प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी। कोई माँ-बहन, कोई भाई ऐसा कह सकते हैं कि क्या करें, संसार का इतना जंजाल है कि आसन-मुद्रा साधने के लिए, इन्द्रिय दमन का अभ्यास करने के लिए समय नहीं है। कोई नहीं कह सकता।

ऐसी साधना करो कि गृहस्थी में रहना तुम्हारे लिए तपस्या का अवसर बन जाये। यह बड़ी भारी भूल है कि हम लोग साधन के लिए खास समय खोजते रहते हैं कि भाई, अनुकूल समय मिले, अनुकूल परिस्थिति आवे और परिवार का जंजाल सिर पर से उतरे तो साधन शुरू करें। नहीं भाई, जिसने परिवार बनाकर, समाज बनाकर तुम्हारे सामने खड़ा किया है, उसने तुम्हारे कल्याण के लिए खड़ा किया है। तो जहाँ-जहाँ दुःख दिखाई देता है, अपना सुख देकर अधिक से अधिक दुःख खरीदो तो हृदय की शुद्धता हो जाये। परपीड़ा से भरा रहे हृदय, कभी छुट्टी ही न मिले कि उसमें सुख की वासना उदित हो, तब चित्त शुद्ध हो जायेगा।

अब दूसरी बात रही। जब परिवार की, समाज की सेवा का अवसर आवे, क्रियाशीलता का समय आवे तो वह क्रिया,, वह सेवा इतनी प्रियता और पवित्रता के साथ की जाये कि जैसे ही उसकी ओर से छूटो तो शरीर और संसार की ओर से छूट जाओ और अपने ही अन्तर में अपने प्यारे की याद बड़े जोर से जग जाये। और याद जगी, स्मृति जगी तो या तो प्रभु के मिलने के आनन्द में आप खो जायेंगे या उनके विरह की व्यथा में खो जायेंगे।

अभी हम लोग अध्यात्म की पाठशाला में किस कक्षा के विद्यार्थी हैं ? अभी हम लोगों का यह प्रयास चल रहा है कि भूतकाल में की हुई भूलों से हृदय में जड़ता, कठोरता, नीरसता और अनेक प्रकार के जो विकार भर गये थे, उन विकारों को मिटाने की चेष्टा में लगे हुए हैं। मोह में फँसे थे तो मोह-त्याग की तैयारी कर रहे हैं। सुख का प्रभाव

मन पर अंकित हो गया था तो उस प्रभाव से मुक्त होने का उपाय कर रहे हैं परम प्रेमास्पद प्रभु की विस्मृति हो गई थी तो सन्तजनों के वचनों को सुनकर, गुरु की सलाह मानकर, गीता, रामायण, पुराण, कुरान के उपदेश मानकर अब हम भूले हुए प्रभु को याद रखने की चेष्टा में लगे हुए हैं अभी हम लोगों की यह दशा चल रही है कि भूतकाल की भूलों से जो भीतर में अशुद्धियाँ और दुर्बलताएँ पैदा हो गयी हैं, उन अशुद्धियों को मिटाने की चेष्टा में हम लगे हुए हैं।

कोई समाज के एक अंग की सेवा कर रहा है तो कोई संत-महात्मा की सेवा में लगा हुआ है, कोई प्रभु की याद में लगा हुआ है तो कोई कमाई हुई सम्पत्ति को बाँटने में लगा हुआ है, कोई कुछ, कोई कुछ। तरह-तरह के उपायों से हम सब भाई-बहन अहं की शुद्धि के प्रयास में लगे हुए हैं। अभी यह period हम लोगों का चल रहा है। अब इसमें जितनी ही तत्परता से आगे बढ़ेंगे, उतनी ही जल्दी मन की, चित्त की शुद्धि हो जायेगी। उसमें एक खास बात है कि दुःखीजनों का दुःख, दूसरों की पीड़ा मेरी अपनी पीड़ा है। किसी दुःखी को देखकर उसकी जगह पर अपने को खड़ा करके देख लो कि जैसे दुःख में यह है ऐसे में अगर मैं होता तो कैसा लगता ? यह दूसरों के दुःख को अपने हृदय में धारण करने का एक तरीका है। अपने को उसकी जगह रखकर अपने से पूछो कि यह बहन जैसे दुःख में पड़ी है, इसकी जगह मैं होती तो मुझको कैसा लगता ? तो एकदम दर्पण के समान आपके भीतर उसका चित्र अंकित हो जायेगा, चित्रित हो जायेगा, दिख जायेगा।

लेकिन एक बड़ा भारी अन्तर है कि जो मोह के प्रभाव से दुःखी होता है उसके भीतर दुर्बलता आती है। वह nervous होता है, घबड़ाता है और जो भगवत् नाते परपीड़ा को अपने में धारण करता है, उस व्यक्ति में दुर्बलता नहीं आती, उसमें नीरसता नहीं आती, उसमें घबराहट या बेचैनी नहीं होती अपितु दुःखी की मदद करने की सामर्थ्य आती है।

सेवा कार्य के लिए प्रकृति भी देती है, परमात्मा भी देते हैं और समाज भी देता है। एक व्यक्ति जरा-सा यह भाव प्रकट करे कि हम समाज की सेवा के लिए व्याकुल हैं, कि हमको दुःखी वर्ग की सेवा करनी है तो आप देखिये, आज भी कलिकाल के प्रभाव से हम लोग व्याकुल है, ऐसे समय में भी सामर्थ्यवान अपनी सामर्थ्य को सेवक के आगे न्यौछावर करने मैं देर नहीं लगाते हैं।

अगर कोई समाज की सेवा करने के लिये तैयार हो गया तो चारों ओर से सहयोग भी मिलेगा। पर पीड़ा को अपने हृदय में पालिये और जो सामर्थ्य मिले उससे सेवा करिये। यह हो गया दृश्य जगत् के साथ साधन रूप व्यवहार और इसके बाद तो आप ही यह पायेंगे कि अब हमारे भीतर जो नित्य विद्यमान तत्त्व है, जो रस स्वरूप ही है, आनन्द स्वरूप ही है, शान्ति स्वरूप है उससे अभिन्न होने की सामर्थ्य आप में आ गयी।

जिस दिन से सुख-भोग की दृष्टि आपने बदल डाली उसी दिन से अशुद्धि का नाश आरम्भ हो गया, जिस क्षण से दुःखियों की पीड़ा को अपने हृदय में धारण कर लिया उसी क्षण से सुख-भोग की वासनाओं की जड़ कट गयी और जिस दिन से सारे जगत् को प्यारे प्रभु का मानकर प्रभु की प्रसन्नता के लिये सेवा-कार्य किया उसी दिन से कार्यकाल में और कार्य के बाद प्यारे प्रभु की याद निरन्तर बनी रहने लगी है और जब साधक सेवा-कार्य से अलग हो अकेले जाकर कहीं बैठ जाता है तो उसके भीतर अलौकिक परमात्मा की विभूतियों का प्राकट्य अपने आप होता रहता है, जो उसको भरता रहता है। तब नीरसता मिटती जाती है, सूनापन मिटता जाता है, आनन्द बढ़ता जाता है और फिर तो रस की वृद्धि इस प्रकार से जादू करती है कि वह शुद्धातिशुद्ध अहं का जो एक द्वैत का भास बना हुआ था कि मेरे परमात्मा हैं और मैं उनका आराधक हूँ, यह नित्य तत्त्व है और मैं उसका जिज्ञासु हूँ-इस प्रकार जो एक खास अलगाव-सा बना हुआ था वह कब और कैसे मिट जाता है, सो साधक को पता भी नहीं चलता।

इसमें बहुत तैयारी की बात नहीं होती है। बड़ी स्वाभाविक बात है। प्रेम तत्त्व ऐसा अलौकिक तत्त्व है और ऐसा चमत्कार पूर्ण है कि परपीड़ा से पीड़ित हृदय शुद्ध हुआ नहीं कि वह प्रेम रस से भर जाता है। प्रभु की याद भीतर जगी नहीं, कि स्मृति ही प्रीति का रूप धारण कर लेती है। उस मिलन का कभी अन्त नहीं होता और विरह में किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती।

जैसे-जैसे विरह की वेदना तीव्र होती है रस की वृद्धि होती चली जाती है, इसलिए विरही को कोई घाटा नहीं लगता। स्वामीजी महाराज से मिलने एक भक्त आया करते थे। उनका गाया हुआ एक पद महाराज जी को बहुत पसन्द था। वह इस प्रकार था-"नींद मैं तोहे बेचूँगी।" भक्ति की बात है। क्योंकि नींद आ जाती है तो विरह की वेदना का पता नहीं चलता है। तो वह विरह भी इतना सरस है भाई। विरह क्या है ? वह तो प्रेम के आदान-प्रदान का एक पथ ही है, एक लीला ही है, और महाराजजी इसकी बड़ी सुन्दर-सुन्दर व्याख्याएँ किया करते। कहते, कि देखो, प्रेम के रस को अनन्त रस कहा गया है, नित नव रस कहा गया है। हर समय इसमें वृद्धि होनी चाहिए। इसमें एकरूपता भी न आ जाय, इसलिए प्रेमास्पद विविध प्रकार की लीलायें रचते हैं। कभी मिलन का प्रसंग आ गया, तो कभी विरह का प्रसंग आ गया। हर समय उसमें एक नयापन आता रहता है। वह जीवन ही क्या, जो दर्द से खाली हो जाय।

बात तो ऐसी है। अब सोच के देखो कि अपने लोगों की दशा क्या है ? भागे-भागे फिर रहे हैं। सुख की आड़ में मुँह छिपाते फिर रहे हैं। किसी तरह से दुःख हमें छुये नहीं तो बच गये। अब ऐसे करो तो दुःख न मिले। अब यहाँ रहो तो दुःख से बच जाओ। परन्तु इस तरह मुहँ छिपाने से, दुःख से हम लोग आज तक बच तो नहीं सके।

इसलिए अगर दुःख लेना ही है तो इस नाशवान जगत् में रहते हुए भी जो दुःख दिखाई देता है, उसको साधनरूप दे दो। साधनरूप देने का अर्थ क्या है ? कि भाई, अपने सुख को बाँट दो। पीड़ितों की

पीड़ा को अपने में ग्रहण करना बहुत बड़ी साधना है। इससे बड़ा कल्याण होता है। बड़ी जल्दी उत्थान होता है और विरह और मिलन की बात जो है वह तो संगम पर गंगा-जमुना की लहर के समान है। कभी गंगा की लहर जोर मारती है तो जमुनाजी में चली जाती है तो कभी जमुनाजी की लहर जोर मारती है तो गंगाजी में चली जाती है।

दोनों मिलकर एक रूप भी हैं और दोनों अलग-अलग भी दिखाई देती हैं। यही प्रेम के मिलन का नितनव रस कहलाता है। अनुभवीजनों ने उस अनुभव को अनिर्वचनीय कहकर वर्णित किया है। क्योंकि उसको प्रकट करने के लिये भाषा बनती ही नहीं है। ऐसा मैंने सुना, कि कृष्ण कन्हैया जब शाम को वन से आने वाले होते, तो अपना-अपना काम-धाम छोड़कर बच्चे, सयाने, बुड्ढे, स्त्री-पुरुष सब दरवाजे-दरवाजे खड़े हो जाते। कन्हैया आ रहे होंगे, आ रहे होंगे। श्रीकृष्ण में इतनी मधुरता और इतना आकर्षण है कि सारे जगत् की ओर से सबका चित्त अपनी ओर खींच लेते। तब कौन घर का काम करे? कोई तवे पर रोटी डाले हुए है, तो उसे योंही छोड़कर भाग जाती। कोई बच्चे को दूध पिला रही है, तो उसे वहीं बैठा कर भाग जाती। सब अपना-अपना काम छोड़कर दरवाजे पर लग जाते। वे आ रहे हैं। दूर से वंशी की ध्वनि सुनाई दे रही है। उसकी मधुरता भीतर प्रेम की लहरियाँ उठा रही है। तो जैसे वंशी की ध्वनि सुनते जा रहे हैं, वैसे-वैसे व्रजवासी कन्हैया की मधुर स्मृति में खोते जा रहे हैं। रस बढ़ता जा रहा है, अहं भाव डूबता जा रहा है। प्रीति उमड़ती जा रही है।

तो अदृश्य रूप से अपने आप में ही विद्यमान उस प्रेमास्पद की मधुर स्मृति में सब खोते जा रहे, खोते जा रहे हैं। तो इन्द्रियों से सम्बन्ध उनका टूट गया, शरीरों से सम्बन्ध टूट गया। हम कहाँ हैं, क्या कर रहे हैं, इसका भास खत्म हो गया। इसी बीच में वह भुवन मोहन अपने रूप और माधुर्य का रस फैलाते हुए सामने से निकल गया।

आँखें खुली हैं पर अपने को पता नहीं है कि मैंने देखा। किसको पता है? आँखों से तादात्म्य हो तो लगे कि हमने देखा या हम देख

रहे हैं। परन्तु रस की अधिकता में लौकिक तत्त्वों से सम्बन्ध ही टूट गया। आँखें खुली हैं, तो खुली हैं और वे अपनी मदभरी दृष्टि से प्रेमियों को मोहते हुए चले गये।

कुछ देर बाद जब होश आता है तो कह रहे हैं कि बड़ी देर हो गई, कन्हैया आया नहीं। कोई कहता है कि पागल हो क्या ? आँखें खोल कर देख रहे थे। तुम्हारे सामने से तो गया था। तुम कैसे कहते हो कि आया नहीं। कोई प्रेमिका अधीर हो करके कहती है कि हे सखी। मैं क्या बताऊँ ? इन आँखों ने जब से उनको देखा, मुझे छोड़कर चली गयी। मेरे पास हैं ही नहीं तो मुझको पता कैसे चले कि मैंने देखा।

कोई कहती है कि हाँ याद तो आता है, लेकिन मैं क्या बताऊँ, सखी ! उनके एक अंग पर दृष्टि पड़ी, तो उसी की रस माधुरी में मैं खो गयी। आज तक मैंने कन्हैया के पूरे स्वरूप को देखा ही नहीं। मुझे पता ही नहीं चला कि वह कैसा है ? क्या हो गया ? द्वैत खत्म हो गया। एक मैं हूँ और एक मेरा प्यारा है, जब तक यह भास बना रहता है तभी तक भक्तों को, प्रेमियों को पता चलता है कि मेरे भगवान हैं और मैं भक्त हूँ। मेरे प्यारे हैं और मैं प्रेमी हूँ ।

जब उस प्रेम की वृद्धि में सीमित अहं डूब जाता है तो उसको कुछ पता ही नहीं चलता है। सदा-सदा के लिये उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व, प्रेम की धातु में परिवर्तित होकर, प्रेमास्पद में जुटकर प्रेम के नित-नव आदान-प्रदान में, नित-नव लीलाओं में लीन हो जाता है। तब आनन्द रह जाता है। कौन किसको आनन्द देता है ? कौन किससे आनन्द लेता है ? यह भेद ही खत्म हो जाता है।

(57)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

हम सब लोग सत्संगी हैं, साधक हैं, साधना के पथ पर आगे बढ़ना चाहते हैं। इस सम्बन्ध में एक आवश्यक बात हम सभी भाई-

बहनों को जान लेनी चाहिये, उससे मदद मिलेगी। वह यह है, कि हर व्यक्ति की बनावट अलग-अलग प्रकार की है। कुछ बातों में हम सभी लोग एक समान हैं और कुछ बातों में सभी एक दूसरे से भिन्न हैं। जीवन की जो मौलिक माँग है, वह सबकी एक समान है। परम शान्ति सबको चाहिए, परम स्वाधीन जीवन सबको चाहिये, परम प्रेम का रस सबको चाहिये। इसमें कोई भेद नहीं है। सब कोई एक समान है। परन्तु रुचि सबकी अलग- अलग, योग्यता सबकी अलग, परिस्थितियाँ सबकी अलग, माता-पिता की दी हुई सांस्कृतिक और धार्मिक पृष्ठभूमि सबकी अलग-अलग, सेवा, त्याग, प्रेम की ओर बढ़ने की तैयारी सबकी अलग-अलग है।

इसलिये सबके लिये किसी एक साधन प्रणाली का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अब होता क्या है ? कि जब सत् की चर्चा सुनने आप बैठते हैं; अलग-अलग ढंग से अलग-अलग साधन प्रणालियों का विवेचन सुनते हैं, तो कभी तो विश्वास-पथ की ओर दृष्टि जाती है। कि यह तो बड़ा आसान है, सब कुछ उनके समर्पित कर दो और निश्चिंत हो जाओ। लगता है कि यह बहुत सहज है। यही करना चाहिये। फिर कहीं पर आप निजस्वरूप के बोध की चर्चा सुनते हैं, तो लगता है कि यह तो बहुत बढ़िया बात है। बस, अपने को छोड़कर और कुछ सोचने, करने की बात है ही नहीं। कभी ज्ञान की प्रधानता, कभी श्रद्धा-विश्वास की प्रधानता, कभी कर्म की प्रधानता, कभी विशेष प्रकार के विधि-विधान-अनुष्ठान की प्रधानता। ये सब-तरह तरह की बातें सुनने को मिलती हैं। और प्रारम्भिक स्थिति के साधक जो हैं वे डगमगाते रहते हैं।

मानव सेवा संघ ने यह परामर्श दिया कि सभी औषधियाँ किसी न किसी रोग को मिटाने के लिये आवश्यक होती हैं। परन्तु एक ही रोगी सभी औषधियों को लाभदायक मान करके सब औषधियों को खाना शुरू करदे तो जिन्दा नहीं रहेगा, मर जायेगा। आप सभी सत्संगी हैं, साधना के पथ पर आगे बढ़ना चाहते हैं। आपकी सहायता के लिए मैं यह सत्य निवेदन कर रही हूँ कि किसी भी दूसरे भाई बहन

की साधना को देखकर अपने विश्वास में, अपने विचार में, अपने नियम इत्यादि में खिचड़ी मत पकाओ, क्योंकि हर व्यक्ति की बनावट अलग-अलग है।

आपके लिये कोई एक ही प्रणाली होगी, जो बिल्कुल स्वाभाविक बैठेगी और आपकी सम्पूर्ण जीवनी शक्ति उसके साथ सम्मिलित हो करके साध्य से अभिन्न करा देगी। साध्य से अभिन्नता में जिस शांति, स्वाधीनता और सरसता का अनुभव होता है, वह सभी साधकों के लिये समान होता है। जब असत् का प्रभाव जीवन पर से उतर जाता है, और सत्य अपनी संपूर्णता से साधक के व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होता है, तो किसी भी बात की कमी नहीं रहती है। सब पूर्ण हो जाता है।

इसीलिए भक्ति-पंथ के साधक, यह कभी न सोचें कि अगर आसन मुद्रा नहीं साधेंगे, योग का अभ्यास नहीं करेंगे तो योगियों को जो आनन्द मिलता होगा, उससे हम वंचित रह जायेंगे। ऐसी बात नहीं होगी। जो लोग योग-पंथ के साधक हैं, उनको ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि न जानें भक्ति-पंथ वालों को क्या मजा आता होगा। अगर हम अपनी ही साधना में लगे रहें, भक्ति के बारे में कुछ न करें तो उस आनन्द से वंचित रह जायेंगे, ज्ञान-पंथ के साधकों को, विचार-प्रधान व्यक्तियों को ऐसा नहीं सोचना चाहिये, कि हम विचार के आधार पर असत् के संग का त्याग करना, इन्द्रियों को विषय विमुख करना मन को निर्विकल्प करना, बुद्धि को सम करना, समाधि की शांति से भी आगे बढ़ना-इसी दिशा में लगे रहेंगे तो क्या जाने भगवद् भक्तों को प्रेम में रस का जो आनन्द आता होगा, उससे हम वंचित रह जायेंगे। ऐसा नहीं होता है।

बहुत आवश्यक बात है, आप सोच करके देख लीजिये, कि व्याख्यान के द्वारा सत्संग की जो प्रथा है, वह कुछ अंशों में लाभदायक भी है, कुछ अंशों में हानिकारक भी है। पहले से आपने एक पथ पकड़ा है। कुछ कर रहे हैं और दूसरी जगह जाकर किसी दूसरी साधन प्रणाली की जोरदार बात आपने सुन ली, तो आपका मन विचलित हो

गया कि हम जो कर रहे थे, उससे भी बढ़िया-बढ़िया बातें हैं, उनको भी करके देखो। तो बस हो गया मामला गड़बड़। चाहे योग का साधक हो, चाहे ज्ञान-पथ का साधक हो, चाहे भक्ति-पथ का साधक हो आप सभी भाई-बहिनों की सेवा में बहुत ही दृढ़ता और विश्वास के साथ मैं निवेदन कर रही हूँ कि जो जीवन किसी पथ के सिद्ध महापुरुष को मिला होगा, वही आपको मिलेगा और जब मिलेगा तो संपूर्णता में मिलेगा। किसी प्रकार की कमी नहीं रह जायेगी।

प्रेम-पथ के साधक जो होते हैं, वे ज्ञान से शून्य नहीं होते हैं। उनको भी ज्ञान का जो पूरा फल हो सकता है, वह सब मिल जाता है। जो विचार-पथ के साधक होते हैं, वे प्रेम से शून्य नहीं रहते हैं। विचार के आधार पर भी जब उनके जीवन में पूर्णता आती है तो प्रेम का रस उनको भर देता है। चूंकि शान्ति, अमरत्व और परम-प्रेम ये-सत्य की ही विभूतियाँ हैं, परमात्मा के स्वरूप में ही ये अविनाशी तत्त्व विद्यमान हैं, इसलिये किसी भी रास्ते से चल करके अगर आप उस सत्य से अभिन्न हो जाते हैं, तो पूर्णता में सब कुछ मिल जाता है सभी साधकों को। किसी प्रकार की कमी नहीं रहती है। इस आधार पर आप सभी भाई-बहिन आज से ही बिल्कुल निश्चिंत हो जाइये कि जो भी साधन-पथ आपने पकड़ा है, आपके जीवन को पूर्ण बनाने में वह समर्थ है। एक बात हो गई।

अब दूसरी बात देखो ! समाज में, सत्संगियों में एक प्रथा प्रचलित है। वह प्रथा क्या है? कि जैसे ही सूझा कि भाई, नाशवान संसार में कब तक फँसे रहोगे, चलो कुछ परलोक का इंतजाम किया जाये। तो जैसे ही ध्यान में आया, उसको ऐसा लगता है कि साधन करो। साधन करने के लिये किसी संत महात्मा के पास चलो, उनसे पूछें। जो बतादें, सो करो। समाज में जो देखा-सुना है, सो करो। घर में जो दूसरे लोग करते आ रहे हैं, सो करो। जिसके बारे में सुना है कि यह अच्छी बात है, वह करो। तो साधन करो, साधन करो- यह बात प्रारंभ हो जाती है।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि साधन करने वाली चीज नहीं है। होने वाली है। यह एक नई बात आपको मालूम होगी, लेकिन बिल्कुल सही बात है। करने वाली बात क्या है भाई? करने वाली बातों के दो भाग हैं। परिश्रम और पराश्रय के आधार पर सेवा करो। स्वाश्रय और विश्राम के आधार पर सत्संग करो।

सत्संग किया जाता है, स्वाश्रय और विश्राम के आधार पर। उसमें बाह्य वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, सामग्री, संगी, साथी आदि बातों की आवश्यकता नहीं है। केवल अपने द्वारा करने की बात है। क्या करने की बात है ? कि जानी हुई भूल का त्याग करना है। जीवन के सत्य को स्वीकार करना है। करने वाली बात जो है वह स्वाधीनतापूर्वक की जा सकती है।

एक तो है शरीर और सामग्री, संगी-साथियों के सहयोग से परिश्रम और पराश्रय का साथ लेकर करना। जगत् की सेवा में इसका सदुपयोग हो जायेगा। दूसरा है, विवेक के प्रकाश में 'स्व' के द्वारा, अपने द्वारा-मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियों, शरीरों के द्वारा नहीं-'अपने' द्वारा निज विवेक के प्रकाश में असत् के संग को, असत् का संग जान करके त्याग करना-यह सत्संग कहलाता है। अपने द्वारा जीवन के सत्य को मानकर उसको स्वीकार करना, स्वधर्म का पालन करना, सत्संग कहलाता है। सत्संग ही करने वाली चीज है।

तो करने के दो भाग हो गये। एक करने का हुआ, कि जिसमें शरीर भी काम आ जाये, सामग्री भी काम आ जाए, पढ़ना, लिखना, बुद्धि, योग्यता, पद, डिग्री आदि सब काम आ जायें। करने का एक क्षेत्र हुआ-सेवा, और दूसरा हिस्सा है-सत्संग। उसमें शरीर, सामग्री, साथी, समय-ये सब कुछ नहीं चाहिये। 'स्व' के द्वारा निज विवेक के प्रकाश में देखो कि कौनसी बात मानने के लायक है- कौन सी बात मानने के लायक नहीं है। जो अनित्य सम्बन्ध दिखाई दिये, आँखों के सामने से खिसकते हुए, मिटते हुए दिखाई दिये, उन अनित्य सम्बन्धों का त्याग करना पड़ता है।

फिर आस्था, श्रद्धा, विश्वास के तत्त्व के आधार पर, सर्वउत्पत्ति के आधार की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। यह करने वाली बात है। 'नहीं' को 'नहीं' कह कर इन्कार कर देना; 'है' को 'है' मानकर स्वीकार कर लेना-यह सत्संग कहलाता है। इसलिये करने वाली बात जो है, वह बिना परिश्रम, पराश्रय, पराधीनता के सम्भव है, जिसमें सभी भाई-बहन समर्थ हैं, स्वाधीन हैं। सभी भाई-बहन इसके अधिकारी हैं। क्यों ? क्योंकि जिन बातों में हमारे व्यक्तित्व की भिन्नता है, उनका प्रवेश सत्संग में नहीं है।

कोई पैसे वाला है, कोई बिना पैसे वाला है; कोई पढ़ा-लिखा है, कोई बेपढ़ा लिखा है। किसी में इतनी सामर्थ्य है कि उसने घूम कर चारों धाम के दर्शन कर लिये। कोई इतना असमर्थ है कि घर में से निकल कर गंगा तट तक भी नहीं जा सकता। मैंने कई जगह कुटियाओं में रहने वाले लोगों को देखा है। ऐसे-ऐसे असमर्थ शरीर लेकर किसी-किसी जगह कुटिया में लोग मुझे दिखाई देते हैं, जो यहाँ रहते हुए भी गंगा जी के तट तक नहीं पहुँच सकते हैं। तो किसी में शारीरिक बल है, किसी में धन का बल है, किसी में योग्यता का बल है, किसी में बुद्धि का बल है। कोई सामाजिक दृष्टि से बड़ा प्रतिष्ठित व्यक्ति है तो कोई ऐसा है कि जिसको कोई भी नहीं जानता है।

ये सारी बाहरी परिस्थितियाँ जो हैं, ये परिश्रम और पराश्रयजनित सर्वहितकारी कार्य में, सेवा में सहयोगी बन सकती हैं। लेकिन, जो 'स्व' के द्वारा 'नहीं' को 'नहीं' करके इन्कार करने, और 'है' को 'है' मानकर स्वीकार करने का पुरुषार्थ है, उसमें पराश्रय नहीं है, पराधीनता नहीं है। संगी, साथी सामग्री, योग्यता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वधर्म है। वह अपने द्वारा संभव है।

एक उच्च वर्ण में जन्मा हुआ व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में स्वाधीन है और एक निम्न वर्ण में जन्मा हुआ व्यक्ति भी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने में स्वाधीन है। इस सत्य की स्वीकृति के फलस्वरूप जब उनके व्यक्तित्व में ईश्वरत्व प्रकट हो

जाता है, प्रभु की महिमा प्रकट हो जाती है, शरीरों से वे ऊपर उठ जाते हैं, अलौकिक परमात्मा के अलौकिक प्रेम से उनका जीवन भर जाता है, तब दुनिया यह नहीं पूछती उनसे, कि तुम किस कुल में जन्मे थे ? पैसा था कि नहीं ? रूप था कि नहीं ? पढ़ना-लिखना किया या नहीं? ऐसा कोई पूछता है किसी से ? कुछ नहीं। "जात-पाँत न पूछे कोई-हरि को भजे सो हरि को होई" मान लेते हैं। यह भेद वहाँ काम नहीं करता है। इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती है। ये सारी बातें पीछे छूट जाती हैं और अनन्त परमात्मा की अलौकिक विभूतियाँ साधक के व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होकर उसको अलौकिकता से अभिन्न कर देती हैं।

इसलिये करने वाली बात जो है वह सत्संग की है, सेवा की है। पराश्रम और पराधीनता को लेकर चलो थोड़ी देर के लिये तो क्रियात्मक सेवा कर डालो। पराश्रय और पराधीनता को छोड़कर बैठ जाओ थोड़ी देर के लिये, तो सत्संग के प्रकाश में अपना कल्याण करलो। तो करने वाली चीज है सत्संग और सत्संग करने से साधन का निर्माण होता है। स्वामीजी महाराज ने अपनी स्वाभाविकता में कहा है- "साधन का निर्माण होता है। सत्संग किया जाता है और साधना अपने आप होने लगती है।"

जिसने अनन्त परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लिया, उसने आस्था, श्रद्धा, विश्वास पूर्वक उनसे आत्मीय सम्बन्ध को मान लिया। तो आस्था करना, प्रभु की सत्ता को स्वीकार करना, उनमें विश्वास करना, उनसे आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना और अपने को उनके समर्पित करना। इन सबके साथ 'करना' शब्द जुटा हुआ है। यह सत्संग है, यह पुरुषार्थ है, जो सब साधकों को करना होता है। जो विश्वास-पथ के साधक हैं, उन सबको ऐसा करना होता है और ऐसा कर लेने के बाद जो साधन का तत्त्व है, वह स्वयं ही उनसे प्रकट होता है। वह क्या है ? कि जिसने सब कुछ परमात्मा को मान लिया, उसके भीतर से ममता का दोष मिट गया। ममता का दोष जहाँ मिट गया, वहाँ संसार का चिंतन खत्म हो गया। चिंतन खत्म हो गया-यह साधना

है। करना नहीं पड़ा। अब आप देखिये। प्रयास करके अभ्यास के द्वारा, चिंतन को दबाने की साधना करने में सफलता बहुत दूर मालूम होती है और ममता रहित होने पर संसार का चिंतन स्वतः छूट जाता है। अचिन्त होने के फलस्वरूप साधन तत्त्व अपने आप प्रकट हो गया।

सत्संग कर लेने पर साधना स्वतः होने लगती है। स्वामीजी महाराज ने किसी को ऐसा नहीं कहा कि यह करो, यह करो। करने वाली बात का विभाग अलग है और होने वाली बात को होने देना, हम सब लोगों के लिये आवश्यक है। पहले करनेवाली बात करलो, तब होनेवाली बात अपने आप होने लगेगी। पहले अनन्त परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करो। सत्ता की स्वीकृति से विश्वास करने में मदद मिलेगी। अब सत्ता में ही सन्देह है, क्या जाने, है कि नहीं है? अगर दूसरों को देख करके, विश्वासी भक्तों के चरित्र को देख करके उनकी नकल करना चाहेंगे हम, तो वह बड़ी जल्दी असफल हो जाता है। पहले सत्ता को स्वीकार करलो तो विश्वास करने में मदद मिलेगी। विश्वास कर लो तो आत्मीय सम्बन्ध जोड़ने का साहस बन जायेगा। आत्मीय सम्बन्ध जोड़ लो तो समर्पण का भाव सजीव हो जायेगा। समर्पण का भाव सजीव हो गया तो ममता, कामना से छुट्टी मिल जायेगी। जीवन निर्मम-निष्काम हो गया तो फिर उसमें परचिंतन नहीं रहेगा। कामनायें चली गईं, ममता चली गई, मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिये-अगर इतनी-सी बात, चाहे ज्ञान-पंथ के आधार पर, चाहे प्रेम-पंथ के आधार पर, जीवन में आ गई तो शांति स्वाभाविक हो जायेगी। प्रसन्न रहना स्वभाविक बन जायेगा। अपने आराध्य से अभिन्न होने की उत्कंठा स्वााभाविक हो जायेगी। उत्कंठा जाग्रत हो जाये, परम प्रेमास्पद प्रभु की स्मृति जाग्रत हो जाये, तो इसको स्वामीजी महाराज साधन का निर्माण कहते हैं।

इसका अर्थ क्या होता है ? कि आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व में उस साधना की प्रधानता हो जायेगी, असाधन कुछ नहीं रह जायेगा। हम लोगों को इस बात को जानना चाहिये कि यदि आप किसी भी साधन को सजीव करना चाहते हैं, तो आप पहले से जो विविध प्रकार की

साधनायें करते आ रहे हैं उनको बंद मत करिये, उनको छोड़िये मत, उनमें विकल्प मत कीजिये। वह सब अपना ठीक रखो। लेकिन उसमें अगर सजीवता नहीं मालूम होती है, जीवन में रस नहीं बढ़ रहा है, निश्चिंतता नहीं आ रही है-अगर ऐसी तकलीफ मालूम होती है, तो एक काम उसके साथ और कर लीजिये। थोड़ी-थोड़ी देर के लिये, अकेले बैठ करके, व्यक्तिगत सत्संग करके सत्संग वाली बात को पहले पक्की कर लीजिये। तो वही साधना जो आज तक आप रूटीन अर्थात् दैनिक जीवन के नित्य-कर्म की तरह करते आये हैं, वही इतनी प्रभावशाली हो जायेगी कि आपको उसमें बहुत सजीवता और सरसता मालूम होने लग जायेगी। इतना अन्तर आ जायेगा।

किसी साधक को उसकी साधना में अविश्वास पैदा करा देना, उसके पथ में उसको सन्देह पैदा करा देना, विकल्प पैदा करा देना, विक्षेप पैदा करा देना-यह सत्संगी का काम नहीं है। मानव सेवा संघ का उद्देश्य यह है, कि जिस रास्ते को आपने पकड़ा है, उसी रास्ते पर चलते हुए आपका कल्याण हो जाये। प्रणाली अपनी वही रखो। उसमें संदेह मत करो, उसमें विकल्प मत करो। केवल एक बात है, कि सत्संग के आधार पर जाने हुए असत् के संग का त्याग करना अगर बाकी रह गया है तो उसे पूरा कर लीजिये। अगर आप विश्वास-पथ को पसन्द करते हैं तो सद्ग्रन्थों में लिखा है-परमात्मा हैं; भक्तजन कहते हैं- 'भगवान हैं' आपको अपने जीवन में भीतर से जरूरत मालूम होती है कि ऐसा कोई हो जिसका आधार लेकर मैं निश्चिंत रहूँ। तो जीवन की इस आवश्यकता को देख कर, संत-महापुरुषों के वाक्यों को सुन कर, सद्ग्रन्थों को पढ़ कर-इन सब आधारों पर एक बार आप अनन्त परमात्मा की सत्ता को स्वीकार कर लीजिये, उनकी महिमा को स्वीकार कर लीजिये।

अपने जिम्मे का इतना काम अगर आप पूरा कर लेंगे तो जिस रूप में भी आपने साकार उपासना, निराकार उपासना जो भी आरम्भ की होगी, वह सब आपके लिये स्वाभाविक बन जायेगी, उसकी कठिनाइयाँ दूर हो जायेंगी। इस तरह सत्संग किया जाता है और

साधन होता है।

किया हुआ जो साधन है, वह आधे घंटे का हो सकता है, दो चार घंटों का हो सकता है, आठ-दस घंटों का हो सकता है, बीस बाईस घंटों का हो सकता है। एक जगह पर स्वामीजी महाराज ने ऐसा कहा कि भैया ! तेईस घंटे, उनसठ मिनिट और उनसठ सैकण्ड तक भी तुमने करने वाली साधना की और एक सैकण्ड के लिये सभी छोड़ करके तुम कुछ दूसरा करने को चले तो तुम्हारी साधना अखण्ड नहीं रही। चौबीस घंटों में से एक बटे साठ सैकण्ड के लिये भी साधना छूट गई तो खंडित हो गई।

ऐसी साधना होनी चाहिये हम साधकों के जीवन में, कि सोते जागते, चलते-फिरते, काम धाम करते, उठते-बैठते प्रवृत्ति में, निवृत्ति में-कहीं भी वह तुम्हारे जीवन से अलग न हो। अच्छा, अब की जाने वाली कोई भी क्रिया विधि, किया जानेवाला कोई भी अनुष्ठान हमेशा के लिये अखण्ड नहीं ही सकता। करने वाली बात कभी भी छोड़नी पड़ेगी। करने में और न करने में सदैव आपके हृदय में प्रभु के प्रति समर्पण का भाव बना रहे तो पत्र-पुष्प लेकर मंदिर में प्रभु के श्रीविग्रह के सामने अर्पण करो तो, और झाड़ू लेकर सड़क पर झाड़ू लगाओ तो, प्याऊ पर बैठ कर प्यासे को जल पिलाओ तो, और रसोई में बैठ कर रोटी बनाओ तो-सारी क्रियाओं के भीतर प्रभु की पूजा की भावना अखण्ड बनी रह सकती है। उस भाव के स्तर पर साधना हमारी पक्की होनी चाहिये।

अब एक विचारशील व्यक्ति है, उसने निश्चय किया है कि दृश्य जगत् में किसी भी दृश्य से मेरा त्रिकाल में भी नित्य सम्बन्ध नहीं है। न पहले था, न आज है, न आगे होगा-यह विचार-पथ के साधक का जाना हुआ सत्य है। इस सत्य का उसने अनुसरण किया। इस शरीर में साँस चल रही है तब भी यह शरीर मेरा नहीं है, और इसमें साँस का चलना बंद हो जायेगा, तब भी यह शरीर मेरा नहीं रहेगा। जब अणु परमाणुओं के संगठन से इस शरीर की रचना हो गई, तब भी मेरा

इससे नित्य सम्बन्ध नहीं था। जब इसके अणु परमाणु प्रकृति के तत्त्वों में बिखर जाएँगे, तब भी इस शरीर से मेरा सम्बन्ध नहीं रहेगा। विचार-पथ के जिस साधक ने, दृश्य मात्र से अपना सम्बन्ध नहीं है- इस सत्य को जान लिया, इस सत्य को मान लिया, इस सत्य के प्रकाश में जीना जिसने आरम्भ किया, वह सभा में बैठे तो क्या, और गुफा में बैठे तो क्या; उसकी साधना में कहीं कोई विक्षेप नहीं हो सकता।

विचार-पथ के साधक के लिये जाने हुए असत् के संग का त्याग करना-यह प्रारंभिक पुरुषार्थ है। इस पुरुषार्थ को कर लेने के बाद आप कहेंगे कि फिर तो शरीर के आधार पर भूख लगती है तो उन्हें भिक्षा तो लेनी ही पड़ती है। भिक्षा लेने के लिये समाज के साथ सम्पर्क रखना पड़ता है, ठीक है आप एक गऊ पालते हैं और उसका उपयोग समाज की सेवा के लिये करने चलते हैं तो उसके चारे-दाने का, उसके रक्षण का, उसकी सँभाल का काम आप करते ही हैं। एक शरीर आपको मिला हुआ है-किसी राग के कारण शरीर बन गया है, वीतराग होने में इस शरीर का सदुपयोग करना है-तो जैसे गऊ की खुराक का आप इन्तजाम करते हैं; इस शरीर के भोजन का इन्तजाम आप क्यों नहीं करेंगे।

जब तक आपको शरीर के राग से मुक्त होने की साधना करनी है, तब तक सात्विक ढंग से, स्वाभाविक रूप में, साधन बुद्धि से शरीर में भोजन डाल देना-यह असाधन नहीं कहलायेगा और जिस दिन शरीरों से तादात्म्य टूट जायेगा, अशरीरी आनन्द में आप मस्त हो जायेगें; जब आप इस शरीर पर से अपना अधिकार उठा लेंगे, इसकी आवश्यकता खत्म हो जायेगी तो भाई, उसके बाद शरीर की रक्षा और देख-भाल का दायित्व आप पर नहीं रहेगा। अनुभवी जनों ने करके देखा है। मैंने अनेक संतजनों के निकट रह कर भी देखा है। उनके जीवन-चरित्रों को पढ़ कर भी जाना है, जब आप शरीरों के स्तर से ऊपर उठ जायेंगे, इनसे असंग हो जायेंगे, उसके बाद आपको अशरीरी जीवन के प्रति इतना घना-इतना मीठा आकर्षण होगा, इतना जोरदार

उस ओर खिंचाव होगा कि पीछे इस हाड़-मांस के शरीर का क्या हो रहा है, सो आपको ध्यान भी नहीं आयेगा। आपकी ममता इस पर से हटी नहीं, आपकी आसक्ति कटी नहीं, कि प्रकृति इसका दायित्व ले लेती है। प्रकृतिपति इसका चार्ज ले लेते हैं और जितने दिन इसको रखना है, आपकी अपेक्षा बहुत बढ़िया ढंग से इसको रखते हैं।

अशरीरी जीवन का जो आनन्द होता है, चाहे प्रेम-पथ से मिले, चाहे ज्ञान-पथ से मिले, चाहे योग-पथ से मिले, कैसे भी मिले-वह आनन्द अवर्णनीय होता है। वर्णन नहीं किया जा सकता; क्योंकि वर्णन करने के लिये तो साकार और सीमित उपादानों का सहयोग लेना पड़ेगा। जब वह अपरिमित भाव, भाषाबद्ध किया जाता है तो परिमित हो जाता है, सीमित हो जाता है। उसको बोल कर प्रकट करने के लिये जब शरीर की सहायता ली जाती है, तो अनुभवीजनों को उस अपरिमित आनन्द में से उतर कर अपने भावों को कहने में उतना अच्छा भी नहीं लगता है और वे पूरी तरह से उसे कह भी नहीं पाते हैं। हमारे जैसे भटकते हुए साधकों को सही रास्ते पर लगाने का जब उनके भीतर हितकारी भाव जगता है, तो वे छोटे-छोटे वाक्यों में सांकेतिक भाषा में कुछ-कुछ कह देते हैं। ऐसे संतों के भीतर से शरीरों की असंगता की स्वाधीनता कभी मिटती नहीं है। किसी क्षण में नहीं।

ऐसा नहीं है कि एकान्त में कुटिया बनाओ, 'साउण्डप्रूफ' कमरा बनाओ, जिसमें बाहर से कोई ध्वनि न आने पावे विशेष रूप से बैठ करके मूक-सत्संग साधो तभी कुछ देर के लिये शरीरों से असंगता की बात तुम्हारे अनुभव में आवे। देहातीत जीवन का आनन्द उन थोड़े से क्षणों के लिये आवे और जब उठ करके पराश्रय और परिश्रम का सहारा लेकर सेवा करने चलो तो असंगता का आनन्द लुप्त हो जाये-ऐसा नहीं होता ।

तो क्या करें ? बैठ कर सोचते हैं तो बहुत अच्छा लगता है और काम करने चलते हैं तो सब भूल जाते हैं। तो भूलते नहीं हैं। जिन्होंने सत्संग कर लिया और उनके जीवन में असंगता के रूप में साधन तत्त्व की अभिव्यक्ति हो गई, उनका साधन अखण्ड हो गया। हमेशा के लिये

हो गया। निज स्वरूप से अभिन्न कराके ही पूरा होगा। मिटेगा कभी नहीं, टूटेगा कभी नहीं। चलते-फिरते, काम धाम करते हुए, शरीर का सदुपयोग करते हुए सामग्री का सदुपयोग करते हुए, ईश्वर-विश्वासियों के भीतर से प्रभु की स्मृति लुप्त नहीं होती है।

ज्ञानपंथ के साधकों में शरीरों की असंगता कभी खंडित नहीं होती है। शरीरों से स्वाधीनता का आनन्द कभी खंडित नहीं होता है। स्वामीजी महाराज ने सभी साधकों के लिये यह सलाह दी कि देखो, सत्संग करने वाली चीज है और साधना होने वाली चीज है। अब तक जो कुछ तुमने साधना आरम्भ कर ली है, उसको छोड़ो मत, उसको बदलो मत; क्योंकि जिस किसी महापुरुष ने, जिस किसी रूप में साधन प्रणालियों का प्रतिपादन कर दिया, किसी भाषा में, पद्य में गद्य में, चाहे जैसे, जिससे जैसे बना, उसने वैसा कर दिया। किसी के कहने से नहीं, किसी के दबाव में आकर नहीं; हृदय के आनन्द की उमंग में अनुभवी महापुरुषों ने अपने अनुभवों को, जैसे-प्रकट कर दिया वह सब ठीक है।

तुम समाज के सम्पर्क में आये, संत महापुरुषों के सम्पर्क में आये, अनुभवीजनों के सम्पर्क में आये और चाहे जैसा तुमने साधन का पथ पकड़ लिया, सो ठीक है। उसे छोड़ने की जरूरत नहीं, बदलने की जरूरत नहीं, क्योंकि उसमें कोई हानि नहीं, है। गलती कहाँ है? अगर उसके पहले सत्संग किया गया होता, तो वह साधन-प्रणाली स्वाभाविक बन गई होती। परन्तु अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। अभी भी ठीक है। आज तुम अपनी साधना करते रहो और कल वह तुम्हारी साधना स्वयं होने लग जायेगी।

(58)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाईयो !

अनुभवीजनों के अनुभव के अनुसार एक बड़ी अच्छी बात हम लोगों को जानने को मिली कि जो जीवन का सत्य है उस सत्य की अभिव्यक्ति, उसकी आवश्यकता अनुभव करने मात्र से होती है। परन्तु जब हम किसी 'पर' की आवश्यकता अनुभव करते हैं, देखे हुए दृश्य जगत् के किसी अंश की आवश्यकता अनुभव करते हैं, कि यह सामान मुझको मिल जाता, कि यह पद मुझको मिल जाता, कि इतनी सम्पत्ति मुझे मिल जाती, कि इतना सम्मान मुझे मिल जाता, कि ऐसा अच्छा शारीरिक स्वास्थ्य मुझे मिल जाता-इस प्रकार की आवश्यकता अनुभव करते हैं तो बड़ा अन्तर पड़ जाता है। ऐसी आवश्यकताओं की जागृति से भीतर-भीतर एक अभाव, पराधीनता और नीरसता सताती है। क्यों ? क्योंकि दृश्य जगत् में सामर्थ्य नहीं है कि मैं उसकी आवश्यकता अनुभव करूँ तो उसी समय वह मुझको प्राप्त हो जाये, ऐसी सामर्थ्य जगत् में नहीं है। देखिये, किसी वस्तु की जरूरत आप अनुभव कर रहे हैं कि यह वस्तु मिल जाती तो अच्छा था और प्रकृति के मंगलमय विधान से आपको वह वस्तु मिल भी गई। लेकिन, वह वस्तु आपके हाथ में पहुँच गई तब भी, उसमें यह सामर्थ्य नहीं है कि आपके जीवन को भरपूर कर सके अथवा सन्तुष्ट कर सके अथवा अन्य सभी जरूरतों से मुक्त करा सके।

देखिये, नई बात क्या होती है कि पहले वस्तु की जरूरत मालूम हुई और किसी तरह से वह आपके पास आ गई तो आपको मालूम होता है कि वह वस्तु मुझको मिल गई तो उसके मिलने से चिंता छूट जाये। निश्चिंतता आ जाये, आराम मिल जाये, लेकिन ऐसा नहीं होता। एक वस्तु आ गई आपके पास, तो उसकी सुरक्षा की चिंता, उसको सँभाल कर रखने की चिन्ता सताने लगती है। यह है देखे हुए दृश्य जगत् के साथ सम्पर्क बनाने का फल ! लेकिन मनुष्य के जीवन की जो वास्तविकता है-परम शांति, अमरत्व, परम प्रेम-ये जीवन तत्त्व

के रूप में हैं। इनकी आवश्यकता जब मनुष्य में जाग्रत होती है तो चूंकि ये तत्त्व सत्य हैं, नित्य हैं अलौकिक हैं, अविनाशी हैं और नित्य विद्यमान हैं। इसलिये इनकी जरूरत जो भी कोई मनुष्य अनुभव करने लग जाता है, तो उस अनुभव मात्र से उसके भीतर-भीतर बल बढ़ने लगता है, शांति बढ़ने लग जाती है और उस अनुभव में इतना घना आकर्षण होता है कि एकबार उसमें लग जाने के बाद दूसरी सारी वस्तुओं से, सभी व्यक्तियों से सम्बन्ध टूट जाता है। शरीर से भी सम्बन्ध टूट जाता है, फिर अन्य वस्तुओं और व्यक्तियों की कौन कहे।

अनेकों महापुरुषों ने अपने अनुभव के आधार पर यह बात हमको बताई है कि जो सत्य है, उसकी आवश्यकता अनुभव करने मात्र से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है और उसकी आवश्यकता जाग्रत होने पर दूसरी सब इच्छायें एवं कामनायें स्वतः ही शांत हो जाती हैं। ऐसा होता रहा है। यह निर्विवाद सत्य है।

अब अपने लोगों की दशा क्या है ? अन्य लोगों ने क्या किया, वह तो थोड़ा बहुत हम लोगों ने सुन लिया है जिस किसी में जिस समय सत्य की खोज की अभिलाषा उत्पन्न हुई, जिस समय परमात्मा के प्रेम की तीव्र प्यास लगी, उस समय उन लोगों ने शरीर और संसार की ओर नहीं देखा। स्वामीजी महाराज के मुख से हम लोगों ने सुना था। कभी-कभी अपनी ही बात बताते कि तीव्र प्यास लगी हो और हाथ में स्वच्छ, शीतल, मीठे जल का गिलास भी हो, तब भी साधक जल को पी नहीं पाता है। उसके भीतर ऐसी तीव्र व्याकुलता जाग्रत हो जाती है कि वह सोचता है कि परमात्मा से मिलें पहले, सत्य से अभिन्नता पहले हो, पीछे जल पीयेंगे।

उस सत्य से अभिन्न होने की, परमात्मा से मिलने की व्याकुलता में कितना जीवन है, कितना रस है, कितनी शक्ति है कि प्यास भी हो, जल भी हो, पर पीने की प्रवृत्ति न हो ! अब आप सोच कर देखिये, जो नित्य तत्त्व है, जो भक्तों के भगवान हैं, जो विश्वासियों के परमात्मा हैं, परम प्रेमास्पद प्रभु हैं, उनके प्रेम की प्यास हो कितनी सरस और

जोरदार है कि उस प्यास की लगन में बाकी सब कुछ निरर्थक हो गया है।

प्रारम्भिक समय में क्या होता है ? हम, लोगों के लिये संसार में रहते हैं और संसार, समाज और गृहस्थी के नियम निभाते हैं। उसी बीच में सत्य की जिज्ञासा भी है और परम-प्रेम की प्यास भी है। जन्म-मरण का बन्धन भी अपने को अच्छा नहीं लगता है, उस बंधन से मुक्त होना भी हम चाहते हैं और अमरत्व से अभिन्न होकर सदा के लिये अविनाशी आनन्द में रहना भी हम पसन्द करते हैं और अलख, अगोचर, अविनाशी, प्रेम-स्वरूप परमात्मा के प्रेमी होकर उनके रस से भरे रहना भी पसन्द करते हैं। हमारे जीवन में वह आवश्यकता जाग्रत तो हैं; जिसकी पूर्ति के बाद फिर और कोई आवश्यकता शेष नहीं रह जाती ; जिसकी पूर्ति से जन्म-जन्मान्तर की सभी समस्यायें हल हो जाती हैं; वह आवश्यकता, वह माँग हम सब लोगों के भीतर है, उसी से प्रेरित होकर हम लोग सत्संग में लगे रहते हैं।

अब आप सोचिये। हमारे आपके लिये प्रश्न क्या है ? प्रश्न यह है कि सत्य की जरूरत भी आप अनुभव करते हैं। शांति की माँग भी आप में है। परमात्मा के प्रेम की माँग भी आपके भीतर है और उसके साथ-साथ सुखभोग की वासनायें भी हैं। यह दोनों एक साथ कैसे चल रहे हैं भाई ? होना तो चाहिये था यह कि प्रेम की प्यास इतनी बढ़ जाती कि सुखभोग की वासनायें खत्म हो जातीं। ऐसा तो हम नहीं कह सकते कि सुखभोग की वासना जब तक रहेगी तब तक सत्य की जिज्ञासा अथवा प्रेम की अभिलाषा जगेगी ही नहीं, क्योंकि सुखभोग की वासना तो मेरी भूल से उत्पन्न हुई है। सत्य की जिज्ञासा और परम-प्रेम की प्यास यह माँग तो अविनाशी है। यह तो हमारे जीवन के मूल में ही विद्यमान है।

जो जीवन के मौलिक तत्त्व के रूप में विद्यमान है, उसका नाश तो कभी होगा ही नहीं। इसलिये भूतकाल में वासनाओं को ज्वाला में फँसे हुए होने पर भी सुख-भोग की तृष्णा में बेचैन रहते हुए भी सत्य

की जिज्ञासा मिटती नहीं है। परमात्मा की याद सर्वांश में खत्म हो जाये, ऐसा नहीं होता। हाँ, यह तो होता है कि सुखद परिस्थिति कोई आ गई, तो सुखभोग में व्यक्ति जड़ता में डूब जाता है शरीर और सामग्री के साथ, उतनी देर के लिये भले परमात्मा को भूल जाये, लेकिन हमेशा के लिये भूल जाये-ऐसा कभी नहीं होता।

बहुत से सावधान भाई-बहन ऐसे हैं कि सुखद घड़ियों में भी परमात्मा को भूलते नहीं है, याद रखते हैं और आये हुए सुख को प्रभु की कृपा का प्रसाद मानते हैं और दुःख की घड़ी में स्वभाव से ही परमात्मा की याद आती रहती है। संत कबीर तो इतने मस्त हो गये दुःख की महिमा से कि कहने लगे-

सुख के माथे सिल पड़े, नाम हिये तैं जाए
बलिहारी वा दुःख की जो पल-पल नाम रटाए।।

महाराजजी ने भी दुःख के प्रभाव को बहुत महत्त्व दिया है; क्योंकि इसने दुःखनिवृत्ति का पथ दिखा दिया, दुःखहारी हरि से मिला दिया। हम सब जो सत्संगी भाई-बहन हैं और किसी न किसी प्रकार से सत्य के पथ पर, परमात्मा की ओर आगे बढ़ने की चेष्टा में लगे हुए हैं, प्रार्थना करते रहते हैं कि हे भगवान ! कैसे भी दुःख का नाश हो जाये । हे भगवान ! कैसे भी वासनाओं का अंत हो जाये। हे प्रभु ! कैसे भी आपकी कृपा का दर्शन हो जाये। इस प्रकार सभी जी-जान से जुटे हुए हैं।

अब ऐसी दशा में लग रहा है हम लोगों को, कि भाई, क्या करें; जब कोई सुखद घड़ी आती है, तो उसमें हम लोग अपने को भूल जाते हैं। जब संसार के लोग सम्मान देने वाले, सहायता करने वाले, प्यार करने वाले, आदर देने वाले जुट जाते हैं तो उस समय कुछ 'अहं' की खुराक अच्छी लगने लगती है। सत्य और परमात्मा को भूल जाते हैं। अब इतना काम हम लोगों को करना है। उसी के लिये महापुरुषों ने सत्संग का इंतजाम किया कि प्रतिदिन प्रातःकाल सो करके जगते ही सबसे पहले और रात्रि में नींद में डूबने से पहले, थोड़ी देर के लिये

बैठ करके व्यक्तिगत सत्संग कर लो।

हमारे भीतर प्रेम का तत्त्व विद्यमान तो है, लेकिन जिन भाई बहिनों ने सुखभोग की रुचि से उसको दूषित नहीं होने दिया, भोग बुद्धि को हटा करके प्रेम की दृष्टि को खोलना पसन्द किया, उनके भीतर वही प्रेम तत्त्व विशुद्ध होता गया, उसकी वृद्धि होती गई, जीवन की मलिनता मिटती गई, प्रेम की प्यास तीव्र होती गई, प्रभु-मिलन की उत्कंठा बढ़ती गई और बाकी सारी दूसरी बातें धीरे-धीरे करके छूटती गईं। हम लोगों को इस वर्तमान में अपने पर जोर डाल करके यह कार्यक्रम, यह साधन, यह नियम रखना ही है किसी न किसी रूप में। सोकर जगने पर पहले एकबार अपने लक्ष्य को याद करलो। जीवन को सामने रख कर अपने को याद दिला कर बिस्तर में से उठो कि भाई, मैं मनुष्य हूँ और यही मौका है, यही अवसर है, मानव योनि ही ऐसी योनि है कि जिसमें आ करके हम जन्म मरण का बंधन काट सकते हैं सदा-सदा के लिये परमस्वाधीन जीवन पा सकते हैं अलख, अगोचर, परमात्मा के प्रेमी होकर उन्हें प्रेमरस प्रदान करके उनके साथ प्रेम के आदान-प्रदान का आनन्द ले सकते हैं लंबी-चौड़ी बात नहीं है।

आपको संस्कृत का अध्ययन न हो, तो अध्ययन किये बिना सत्य की अभिव्यक्ति नहीं होगी-ऐसी बात नही है कुछ श्लोक या मंत्र याद करने की बात नहीं है। उनमें भी ये सब चीजें भरी पड़ी हैं। लेकिन हमने नहीं पढ़ा है तो कोई बात नहीं है। मनुष्य हैं, उसके मौलिक तत्त्व में जीवन की जिज्ञासा है, सत्य की जिज्ञासा है, प्रभु प्रेम की अभिलाषा है तो इसी को अपने लिये मूल आधार मानकर इस दिशा में आप आगे बढ़ सकते हैं। कोई पढ़ी-लिखी बहन हो तो भी और नहीं पढ़ी हो तो भी, कोई बहुत सम्पन्न परिवार में पैदा हुआ है तो भी, कोई बहुत ही विपन्न परिवार में पैदा हुआ है तो भी कोई चिंता की बात नहीं है। शारीरिक स्वास्थ्य ठीक है तो क्या और बहुत प्रकार के रोग लगे हैं तो क्या। वे सब चीजें जहाँ हैं, वहाँ है और आपकी अपनी मौलिकता अपनी जगह पर है। जीवन का मूल तत्त्व हर परिस्थिति में आपमें विद्यमान है। मैं विश्वासियों की भाषा में कहती हूँ कि मुझको सत्ता देने

वाले अनन्त परमात्मा मुझमें विद्यमान हैं, मुझको प्रकाश देने वाले ज्ञानस्वरूप परमात्मा मुझमें विद्यमान हैं। उनके दिये हुए प्रकाश में जीवन का चित्र हम लोगों को दिखाई दे रहा है।

प्रतिदिन प्रातःकाल एक बार जरूर याद करिये कि भाई, मैं मनुष्य हूँ। मनुष्य हूँ। मनुष्य के नीचे जितनी बार शरीर धारण करके मैं इस संसार में आया, जन्म-मरण की बाध्यता को ढोता रहा। अब एक अवसर आया है। जो कि गोस्वामी तुलसी दास जी के शब्दों में- 'साधनधाम मोक्ष कर द्वारा' है। यह दरवाजा है जिसमें प्रवेश कर जाओ तो फिर जन्म-मरण की बाध्यता खत्म हो जाये। मैं मनुष्य हूँ, इस नाते जन्म-मरण के बंधन को काटने का पुरुषार्थ मुझको आज ही करना है, अभी करना है-इसको याद करो। मैं मनुष्य हूँ और मुझे अपने ही स्वरूप में से प्रेम तत्त्व देकर प्रेमस्वरूप परमात्मा ने बनाया है। पश्चिम के दर्शनकारों ने भी इस बात को स्वीकार किया और लिखा कि-God created man in His own image. परमात्मा ने अपना ही प्रतिरूप देकर मनुष्य को बनाया है। नित्य सुबह सोकर जगते ही, हम लोगों को बिस्तर में बैठे-बैठे ही यह याद कर लेना चाहिये कि मैं मनुष्य हूँ, यही अवसर है कि मैं अपने भीतर सत्य की जो जिज्ञासा है, उसको तीव्र बनाऊँ मेरे भीतर प्रभु-प्रेम की जो अभिलाषा है, उसको जाग्रत करलूँ। फिर ऐसा अवसर कब मिलेगा ? मालूम नहीं है।

तो यह अवसर आँख खुलते ही bed tea की याद में ही नहीं गँवाना चाहिए। चाय के तरल पानी में क्या विशेषता है कि एकदम से जैसे चेतना आई, वैसे ही चाय की याद आती है। यह भी कोई मानव जीवन है ? प्रकृति ने अपनी थकान को मिटाने के लिए नींद का इंतजाम कर दिया; नहीं तो भोग प्रवृत्तियों में लगा हुआ व्यक्ति शारीरिक स्वास्थ्य की ओर भी ध्यान न देता और अधिक से अधिक भोग प्रवृत्तियों में रत होकर जल्दी से जल्दी अपनी प्राणशक्ति को गँवा देता। लेकिन प्रकृति ने प्रतिबन्ध डाल दिया कि जब भोग प्रवृत्ति में शामिल होओगे तो जैसे ही तुम्हारे भीतर शक्तिहीनता आयेगी वह तुम्हारे सब स्नायु मंडल को शिथिल बना देगी, और तुम [illegible]

लिये बाध्य हो जाओगे और सो जाओगे।

प्रकृति ने शरीर, मस्तिष्क और स्नायु मंडल को आराम देने के लिये निद्रा का विधान बना दिया। भोग-बुद्धि से जीने वाले जो व्यक्ति हैं; वे तो सुख-भोग की प्रवृत्ति में और उसके न मिलने के क्षोभ में, दुःख में जीते हैं, जागते हैं और सोते हैं। स्वप्न में भी वही सब देखते हैं और उठने के बाद फिर उसी में दौड़ जाते हैं। यह तो मानव जीवन नहीं है।

मैं मनुष्य हूँ; मानव जीवन मुझे मिला है, यह तो साधन का धाम है, मोक्ष का द्वार है, प्रेम स्वरूप परमात्मा को रस प्रदान करने का अवसर है। यह राग-द्वेष में हँसने या रोने, क्षोभ व क्रोध में बिताने के लिये नहीं मिला है। आप सच मानिये, कि अपने द्वारा जीवन में इस दार्शनिक दृष्टिकोण को सामने रख कर बिस्तर से पाँव उतारियेगा तो आपको भोग-वासनाओं से संघर्ष नहीं करना पड़ेगा।

अपने अहंरूपी अणु में अपार शक्ति है। आपकी स्वीकृति को, आपके निश्चय को, आपकी प्रतिज्ञा को सारा संसार मिल करके भी डिगा नहीं सकता। अपनी इस महिमा में विश्वास करो !

रात्रि में जब सोने के लिए आप तैयार हो जायें तो हाथ-पाँव धोने के बाद बिस्तर में थोड़ी देर बैठिये और फिर एकबार व्यक्तिगत सत्संग कीजिये। एक बार देखिये तो सही, कि प्रातःकाल सो कर उठे थे तो आपने अपना यह निश्चय किया था कि मैं मनुष्य हूँ, मुझे इसी वर्तमान में जन्म-मरण के बंधन से मुक्त होना है। परम प्रेमास्पद, प्रेमस्वरूप परमात्मा का प्रेमी होना है-ऐसा निश्चय करके मैं उठा था। दिन भर का जो कार्यक्रम चला मेरा, तो उसमें मैंने भोगतृष्णाओं को बढ़ाया, राग-द्वेष को बढ़ाया, या कोई गलत-सलत काम किया या अपने उस लक्ष्य को सामने रखकर कुछ काम किया तो आपको दिख जायेगा। बहुत आराम मिलेगा कि बीच में दिनभर कभी उसको याद करने को मौका न भी मिला हो, तो भी अपने द्वारा स्वीकार किया हुआ सत्य व्यक्ति की इन्द्रियों को, मन को, चित्त को, बुद्धि को, ज्ञानेन्द्रियों और

कर्मेन्द्रियों को , सबको प्रमाणित कर देता है। इसलिये आपको सोचना नहीं पड़ेगा कि अरे, हमारा मन कहाँ गया? उसको पकड़ के लाएँ, चित्त कहाँ गया, उसको पकड़ के लाएँ, आपको ऐसा करना नहीं पड़ेगा।

आपने मनुष्य होने के नाते अपने द्वारा इस सत्य को स्वीकार किया तो आपकी स्वीकृति सभी विभिन्न अंगों पर छा जायेगी और स्वभाव से ही ये सारी शक्तियाँ आपके निश्चय के अनुसार काम करने लग जायेंगी। इसे मानिये। यह तो आज के आधुनिक मनोविज्ञानवेत्ता भी कह रहे हैं। अपने पुराने ऋषियों, मनीषियों और महापुरुषों ने तो कहा ही है कि भाई, तुम अपने गुरु आप बन सकते हो, अपने उद्धारक आप बन सकते हो।

यह मैं याद दिला रही हूँ, कुछ मत करो। केवल सवेरे और रात्रि में सोने के समय याद कर लिया करो। मैं मनुष्य हूँ और मुझे यह जो जीवन मिला है, वह शांति, मुक्ति और भक्ति की अभिव्यक्ति के लिए मिला है। आप देखेंगे कि आपके इस निर्णय के प्रभाव से जिज्ञासा तीव्र होती जाएगी, परम-प्रेम की प्यास तीव्र होती जायेगी और सुख-भोग के साधनों से आपका ध्यान हटता चला जायेगा। नये सुख-भोग की प्रवृत्ति में पड़ेगें नहीं। इसलिए इतना तो हमें अपनी ओर से जान बूझ कर सचेत होकर करना ही है।

हमारा उद्देश्य तो यह है कि भोग प्रवृत्तियों की ओर से हम अपने को हटा लें और सत्य की जिज्ञासा तीव्र हो जाये। प्रभु-प्रेम की प्यास खूब बढ़ जाये। इसके लिए मैं प्रारम्भिक उपाय आपको बता रही हूँ कि किसी नये भोग या भोगप्रवृत्ति में अपने को मत डालो। इतना तो कह सकते हैं कि नहीं ? स्वाद के लिये शरीर की आवश्यकता से अधिक नहीं खाना। थोड़े में, कम खर्चे में काम चल सकता है तो वैभव विलास में अपने को शामिल मत करना। मनोरंजन के लिए जो नहीं देखना चाहिए उसे मत देखो। जो नहीं सुनना चाहिये, उसे मत सुनो। 'हम देखेंगे' - ऐसा करने में तो आप पराधीन हैं। 'हम नहीं देखेंगे-इसमें कोई पराधीनता नहीं है। 'हम अमुक प्रकार की सुख सामग्री लेंगे' - इसमें तो

आपकी पराधीनता है। 'लेकिन हम नहीं लेंगे-'इसमें कोई पराधीनता नहीं है। आपके पास लाकर चाहे वह रख भी दिया जाये तो आप वह सुख नहीं भोगेंगे। इससे दुनिया में कोई नाराज नहीं होता है। उल्टा दूसरे लोभी लोगों को बड़ा आनन्द आता है कि यह तो नहीं खाती है, लाओ अपन बाँट कर खालो। इनको तो नहीं चाहिए, लाओ हम लोग बाँट लें, ले लें। दूसरे लोगों को खुशी होती है। इतना भी अगर आप करने के लिए राजी नहीं हैं तो सोचिए कैसे ध्यान लगेगा ? कैसे भजन होगा ? कैसे पूजन होगा ? कैसे प्रेम की वृद्धि होगी ? कैसे मानव-जीवन सफल होगा ?

अगर मैं कहूँ कि घर छोड़कर तीर्थवास करना शुरू करो तो सब लोग नाराज हो जायेंगे और कहेंगे कि लो, देवकीजी ने हम लोगों का घर ही उजाड़ दिया। सो तो मैं नहीं कहती हूँ। उससे फायदा होने वाला भी नहीं है। उसकी सामर्थ्य भी आपमें नहीं है। मैं केवल इतना कहती हूँ कि अगर आपके सामने यह लक्ष्य है कि सत्य की जिज्ञासा तीव्र हो जाये, परम-प्रेम की अभिलाषा तीव्र हो जाये तो इसके लिये उपाय है कि नई-नई भोग प्रवृत्ति में अपने को नहीं उलझाना चाहिये क्योंकि भूतकाल के भोगे हुए सुखों का स्टाम्प भी तो भीतर में लगा हुआ है। भोगे हुए सुखों का प्रभाव आज हम लोगों को शान्त नहीं रहने देता है, प्यारे प्रभु की याद में नहीं रहने देता है।

जो लोग जीवन के लक्ष्य की ओर आगे बढ़ना चाहते हैं, उनको नये-नये सुखों में फँसना नहीं चाहिये। नये विकार पैदा करेंगे नहीं तो विकार बढ़ेंगे नहीं, और पहले वाले जो बने हुए हैं, उन सबका नाश भगवत् कृपा से हो जायेगा, सत्य की जिज्ञासा से हो जायेगा। यह सब जरूर हो जायेगा। होता है ऐसा। हम कहाँ से कदम उठा सकते हैं यह आपकी सहायता के लिए निवेदन कर दिया मैंने । अब दो तीन मिनिट का समय और रह गया है तो उसके लिए एक और जरूरी बात मुझे याद आ गई है, जो कल की चर्चा में रह गई थी। वह यह है कि यह व्यक्तिगत सत्संग का क्रम तो General अर्थात् सर्वसाधारण हो गया। सभी भाईयों के लिए, सभी बहनों के लिए, सभी मत, पंथ, सम्प्रदाय,

जाति, वर्ग के लिये एक समान है कि भाई, सवेरे उठो तो याद कर लो, रात्रि में सोने जाओ तो याद करलो तो Stamp स्टाम्प लग जायेगा अहं में, फिर वह तो प्रधान हो जायेगा और जो छूटने वाला है, वह छूट जायेगा।

अब एक बात रह गई थी, वह थी साधना के चुनाव के सम्बन्ध में। किसी व्यक्ति को विश्वास-मार्ग अनुकूल पड़ेगा, उसके लिए भक्ति-पथ ठीक है; किसी के लिये ज्ञान-पथ ठीक है। अनुभवी संतजन के पास जाओ तो वे तुम्हारा अध्ययन कर लेते हैं कि इसकी रुचि कैसी है, इसकी बनावट कैसी है, इसकी तैयारी कैसी है, इसके संस्कार कैसे हैं। ये सब वे लोग अपने आप जान लेते हैं और जान करके बता देते हैं कि भाई ऐसा करो, ऐसा करो।

अब मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि एक ही साधक, एक ही समय में, एक ही वर्तमान जीवन में दो-चार पंथों का अनुसरण नहीं कर सकता। करने जायेगा तो उसको सफलता नहीं मिलेगी। मेरे लिये कौनसा पथ ठीक बैठेगा, इसके लिये अपनी स्वााभाविक रुचि को देख लीजिये। अगर आपकी समझ में आ जाये, तो ठीक है। बहुतों की समझ में आ जाता है तो वे अपने आप चुनाव कर लेते हैं कि मुझको विश्वास का पथ पकड़ना चाहिये, कि ज्ञान का पथ पकड़ना चाहिए। क्या करना चाहिये-उनको मालूम हो जाता है।

अधिकांश भाई-बहन ऐसे होते हैं कि उनको पता नहीं चलता कि हमको क्या करना चाहिये और यह दोष हमारे ग्रुप अर्थात् समुदायों का है। एक ही व्याख्यान में कभी योग की चर्चा हो रही हैं, कभी ज्ञान की चर्चा हो रही है, कभी प्रेम की चर्चा हो रही है। व्याख्यान की इस प्रथा ने सामान्य कोटि के साधकों को Confuse कर दिया। अर्थात् उनमें बुद्धि-भेद उत्पन्न कर दिया है। उनको पता ही नहीं चलता है कि हमको कैसे चलना चाहिये ? क्या करना चाहिये ?

तो क्या करोगे ? बहुत ही स्वतन्त्र उपाय है। किसी तरह की पराधीनता नहीं है। स्वामीजी महाराज ने कहा [illegible] तुम्हारे

पास बुद्धि है तो बुद्धि को संसार के स्वरूप को जानने में खर्च करो।' क्या सत्य है ? क्या असत्य है ? यह नाशवान् है, यह परिवर्तनशील है, यह मिला था, यह छूट गया, यह बना था, यह मिट गया, इसमें तुम्हारी बुद्धि सब काम करेगी। ठीक है ? इसमें तो कोई दिक्कत नहीं होगी, हम सब लोग बुद्धिमान हैं इस बारे में, कि अपने को छोड़कर बाकी सब लोगों के दोष देख लेते हैं। परन्तु अब तक दूसरों के दोष देखते-देखते अपना काम बना नहीं तो अब बुद्धि भगवती से प्रार्थना करिये और उसे अपने दोष देखने में लगाइये। सब समझ में आ जायेगा और बुद्धि का सदुपयोग हो जायेगा और जब भीतर से प्रभु-विश्वास की उमंग उठे, हृदय में भाव हो और ऐसा लगे कि कितना अच्छा होता कि हम एक ही विश्वास रखते ! कितना अच्छा होता कि हम एक ही से सम्बन्ध रखते ! कितना अच्छा होता कि प्रभु के प्रेम से जीवन भर जाता ! तो जब भाव पक्ष आपके भीतर प्रबल हो जाये और ईश्वर के विश्वास और भक्ति के पथ का अनुसरण करने की लालसा आपके भीतर जगे, तो फिर उस विश्वास में बुद्धि को शामिल मत होने देना। यह तर्क मत करना कि परमात्मा कहाँ है ? कैसा है ? क्या करता है ? किसी को मिला है कि नहीं मिला है ? जो लिखा गया है, वह सब सत्य है कि नहीं है ? बड़े-बड़े लोग सब अटक कर रह गये तो हमारा क्या होगा? इस प्रकार संकल्प, विकल्प और विवेचन करना बुद्धि का कार्य है, इसको प्रभु-विश्वास में शामिल मत होने देना। रोककर अलग रखना। विश्वास करना तो हृदय के भाव-पक्ष का काम है। मुझे तो अपने द्वारा फैसला करना ही है कि अगर मुझे विश्वास करना है तो बिल्कुल, सम्पूर्ण विश्वास ही करना है। विश्वास में तर्क मत लगाओ और तर्क में विश्वास मत लगाओं। बुद्धि का क्षेत्र जितना है, पूरी तरह से, ईमानदारी से, सत्य-असत्य का विवेचन करके उस प्रक्रिया को वहीं पर खत्म कर दिया जाये। अगर जीवन में विश्वास न भी आया तो कोई चिन्ता की बात नहीं है। 'नहीं' को 'नहीं' करके अस्वीकार करने से भी सत्य की अभिव्यक्ति होती है।

अब कोई कह सकता है। कि क्यों मानूँ परमात्मा को ? क्योंकि

आपके गुरु ने कहा है- इसलिये मानो । क्योंकि सद्ग्रन्थों में लिखा है, इसलिए मानो। क्योंकि उनके माने बिना आपका काम नहीं चल रहा है इसलिये मानो। सदा के लिए साथ देने वाला साथी नहीं मिल रहा है। परम प्रेम से जीवन को भरपूर कर दे, ऐसा भरपूर करदे कि फिर किसी और की जरूरत न रहे-ऐसा कुछ संसार में मिला नहीं है। अचल आधार नहीं मिला, केवल प्रेम-भाव से संतुष्ट होने वाला कोई सगा सम्बन्धी नहीं मिला। इसलिए जरूरत है परमात्मा की। तो अपनी जरूरत से परमात्मा को मान लीजिये, गुरु के कहने से परमात्मा को मान लीजिये, ग्रन्थों में उनकी चर्चा है, उनके आधार पर मान लीजिये। मान लीजिए तो मान ही लीजिए। फिर उसमें बुद्धि न लगाइये।

तो आज की चर्चा के दो भाग अलग-अलग करके रखिये। विचार का उपयोग विचार के क्षेत्र में हो जायगा। विश्वास का उपयोग विश्वास के क्षेत्र में हो जायगा और आपके व्यक्तित्व की रचना के अनुसार एक की प्रधानता हो जायगी, दूसरा उसमें सहयोगी बन जायेगा। इस प्रकार स्वतः ही आपकी साधना का पथ निर्धारित हो जायेगा। अपने द्वारा हो जाये तो अपने द्वारा करलो। गुरु के कहने से मान सको, तो गुरु के कहने से मान लो। जैसे भी हो, अपने को एक निर्णय पर आना ही चाहिये। एक पथ का अनुसरण करके, एकनिष्ठ होकर अपनी साधना की गहराई में उतरना ही चाहिये। यह काम आज ही होना चाहिए। इसी वर्तमान में होना चाहिए।

अब शांत हो जाइये !

(59)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

सन्तवाणी में हम लोगों ने सुना, अकिंचन और अचाह हो जाने से चित्त शुद्ध हो जाता है और शान्त हो जाता है। चित्त शुद्ध हो जाने से फिर उसमें नये विकार उत्पन्न नहीं होते और शान्त हो जाने पर वह

परमात्मा से लग जाता है, अथवा ऐसा कहें कि जहाँ लगना चाहिए वहाँ लग जाता है, जहाँ से हटाना चाहिये वहाँ से हट जाता है।

साधक समाज का एक बड़ा प्रश्न है कि चित्त को जहाँ लगाना चाहते हैं, वहाँ लगता नहीं है और जहाँ से हटाना चाहते हैं, वहाँ से हटता नहीं है। ऐसा हम सब लोग अनुभव करते हैं। स्वामीजी महाराज का सुझाव इस सम्बन्ध में एक विशेष प्रकार का है। पहली बात तो यह है कि किसमें हमारा मन लग गया, किसमें हमारा चित्त लग गया-इस बात को थोड़ा सावधानी से आप देखिये। मानव सेवा संघ का सबसे पहला नियम है आत्मनिरीक्षण। आप सभी भाई-बहन किसी भी मत के, किसी भी पक्ष के साधक हों, कोई अन्तर नहीं आता है। मन सबके पास है, मन की चंचलता का अपने को आभास भी है और उसको निश्चित करने का औचित्य, निश्चित करने का प्रश्न भी सभी साधकों के सामने है ? इसलिये आप ज्ञान मार्गी हैं, कि प्रेममार्गी हैं, साकार उपासक हैं कि निराकार उपासक हैं, योग के साधक हैं, कि तत्त्व के शोधक हैं-किस प्रकार के साधक आप हैं इस भेद से कोई अन्तर नहीं आता। जब यह साधक मात्र का प्रश्न है, सबके जीवन में यह समस्या आती ही है, तो इसके समाधान का उपाय भी ऐसा ही सार्वजनिक और सार्वभौम होना चाहिये तो किसी खास साधक के लिये हो और किसी खास के लिये नहीं हो ऐसी बात नहीं है।

पहला नियम महाराज जी ने यह बताया कि सभी भाइयों को, सभी बहिनों को, जिनको ऐसा दिखाई देता है कि मेरे चित्त में विकार उदित हो रहे हैं, मेरा मन शांत नहीं है इससे अपने को बचाना है। हटाना है तो पहला इन्तजाम यह करना चाहिये कि प्रातःकाल थोड़ा जल्दी उठें। तीन, साढ़े तीन बजे के बीच में नींद खुले तो बहुत बढ़िया बात है। उसका इन्तजाम कर लें। रात्रि को देर से भोजन न किया जाये, गरिष्ठ भोजन न किया जाये, हल्का भोजन लिया जाये तो आलस्य कम होता है और चेतना रहती है और समय पर निद्रा खुल जाती है।

प्रातःकाल जैसे ही आँख खुले, आप मुँह धोकर, आँखें धोकर कुल्ला करके बैठ जाइये। थोड़ी देर के लिये आत्म-निरीक्षण कीजिये। मूक-सत्संग उसके बाद आरम्भ होगा। लेकिन पहले अपना निरीक्षण और अध्ययन थोड़ी देर के लिये कीजिये तो कुछ-कुछ बातें आपको दिखाई देंगी। ऐसा लगेगा कि बाहर से हम चुपचाप होकर बैठे हैं लेकिन भीतर मन में कुछ गतिशीलता दिखाई दे रही है, चित्त में कुछ अशुद्धि मालूम हो रही है। कुछ विकार उदित हो रहे हैं-ऐसा लगेगा, पर उससे डरना नहीं चाहिए, घबराना नहीं चाहिये। बहुत सावधानी से, अगर आप पढ़ना लिखना जानते हैं और आपको पसन्द आए तो डायरी और पैंसिल लेकर बैठिये।

मैंने ऐसा किया है और ऐसा करने से मुझको मदद मिली है। दो-चार मिनिट का मामला है, लम्बा चौड़ा काम नहीं है। मन में, चित्त में दिखता है, उपजा तो अहं में से ही है परन्तु प्रकट होता है मन में, चित्त में। मन कहाँ-कहाँ जा रहा है, किन-किन बातों की याद आ रही है, किन-किन व्यक्तियों की याद आ रही है। थोड़ी देर के लिए आप अध्ययन करके देख लीजिये। घबराइये नहीं कि यह सब क्या हो रहा है और उसको डायरी में नोट कर लीजिये। अगर कोई जरूरी काम है जो आज दिन में आपको करना है तो नोट कर लेने से दिमाग का चिन्तन खत्म हो जायेगा। तनाव Tension मिट जायेगा। भीतर का जो चित्र आपको दिखाई दे उसको छिपाना नहीं चाहिये, उसको ढकना नहीं चाहिऐ, उसको दबाने की कोशिश नही करनी चाहिऐ। बिल्कुल निर्भय होकर के उसे देख लेना चाहिए। क्योंकि अपने सम्बन्ध में अपनी जानकारी जितनी सही होगी, उतनी ही साधना के मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायता मिलेगी।

अगर अपनी वर्तमान स्थिति का अपने को पता नहीं है और सन्तजनों की बड़ी-बड़ी बातों को लेकर हम हठ पूर्वक बैठ जाते हैं कि अब ऐसा करेंगे, वैसा करेंगे तो होता ही नहीं है। कठिनाई पड़ जाती है। तो पहला काम है आत्म-निरीक्षण करो, और अगर उसमें कहीं कोई भूल दिखाई देती है तो भूल को जान लेने के बाद, कि मेरे भीतर यह

गलत बात है, उसको छोड़ने की प्रतिज्ञा करो। की हुई भूल को न दुहराने का व्रत लेना-हम सब भाई बहनों के लिए बहुत जरूरी बात है। ऐसा मत सोचिये कि भूलों का त्याग हम नहीं कर सकेंगे। निर्दोष जीवन अपने को पसन्द है, अगर हम अपने को निर्दोष बनायेंगे तो उससे अपना हित होगा बाद में, उसका लाभदायक प्रभाव समाज पर दिखाई देगा पहले। एक-एक परिवार में, एक-एक समाज में अगर एक-एक निर्दोष व्यक्ति खड़ा हो जाता है तो उससे परिवार और समाज का कितना भला हो जाता है।

अब मान लो कि तुम्हारा ध्यान नहीं लग रहा है, मान लो कि हमारे भीतर अभी निज स्वरूप की स्मृति नहीं आई, निज प्रभु की मधुर स्मृति जाग्रत नहीं हुई। फिर भी हम लोग साधक हैं और सफलता चाहते हैं तो एक बात सोच करके देखिये, कि कौनसा जाप जपेंगे, आपको कौनसा विधि-विधान आपके गुरु बतायेंगे-ये सब जहाँ के तहाँ बिल्कुल ठीक हैं। लेकिन एक बात सोच करके देखो, कि बैठे-बैठे भी चित्त में उद्विग्नता हो रही है, रहा नहीं जाता, उठ-उठ कर आदमी टहलने लग जाते हैं, सोचने लग जाते हैं कि कहाँ जायें, किससे बात करें, क्या करें, बैठे- बैठे तो आदमी पागल हो जायेगा-ऐसा क्यों होता है ? चित्त में इतनी उद्विग्नता है जिससे अपने को शांति नहीं मिलती है और उसके कारण से जीवन में सरसता नहीं आती है। नीरस और अशान्त जीवन किसी को अच्छा लगता है क्या ? नहीं लगता है। तो साध्य से अभिन्नता होने पर सारा जीवन आनन्द से भर जायेगा, रस से भर जायेगा-इस अपने उद्देश्य को सब समय हम लोगों को दृष्टि में रखना ही चाहिये।

अगर जीवन से अभिन्न होने के लिये पुरुषार्थ करना है, परम प्रेम से भरपूर होने के लिए पुरुषार्थ करना है, तो अकेले में प्रातःकाल बैठते ही अपना चित्र देखें। तो अपने चित्त में कुछ अशुद्धि दिखाई देगी। कुछ ऐसे विचार उदित होंगे कि जिनको हम लोग पसन्द नहीं करेंगे और कुछ ऐसे व्यर्थ चिन्तन उदित होंगे कि जिनको आप मिटाना पसन्द करेंगे।

इसके आगे क्या करें ? व्यक्तिगत सत्संग करें। अपने लक्ष्य को याद करें, कि कोई चिन्ता नहीं ऐसा दिख रहा है तो दिखने दो। लेकिन अपना लक्ष्य क्या है ? -यह याद रखें। अपना लक्ष्य है परम शान्ति! अपना लक्ष्य है अमर जीवन !! अपना लक्ष्य है परम प्रेम !! वास्तविक जीवन का स्वरूप भी यही है। जो नित्य तत्त्व हैं उसकी विभूतियाँ भी ये ही हैं। जो प्रेमस्वरूप परमात्मा हैं उनकी विभूतियाँ भी ये ही हैं और यही हम लोगों के अहंरूपी अणु में बीज तत्त्व के रूप में विद्यमान है।

परम शांति भी भीतर विद्यमान है, स्वाधीनता भी है, परम प्रेम भी है। यह सब विद्यमान होते हुए भी अपन लोगों को आराम नहीं मिल रहा है तो क्यों नहीं मिल रहा है? क्योंकि जानी हुई भूल को करते गये और की हुई भूलों को दुहराते गये। भूलों को करते जाने से, दुहराते जाने से, चित्त में और मन में अशुद्धि बढ़ती जाती है। अशुद्धि के रहते अन्दर का जो अपना वास्तविक स्वरूप है, नित्य तत्त्व की विभूतियाँ हैं अपने ही में विद्यमान हैं वे प्रकट नहीं होती हैं और आराम नहीं मिलता है। यह बात आपको जँचती है तो पहला काम आपको क्या करना चाहिए ?

पहला काम करना है अपने जीवन को निर्भूल बनाना। जानी हुई भूल करेंगे नहीं, की हुई भूल को दुहरायेंगे नहीं । मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है, कि प्रकृति का बनाया हुआ शरीर है, साँस चल रही है रक्त-संचार हो रहा है, आप लोग थोड़ा बहुत-कुछ हल्का जलपान करके आये होंगे तो उसकी पाचन क्रिया सहज भाव से चल रही है। तो इन क्रियाओं को करने का अपने को कोई भार या श्रम मालूम नहीं होता है। अगर पेट में वायु विकार पहले से हो तो तकलीफ होगी। पता चलेगा कि हमारे पेट में कुछ क्रिया हो रही है। ऐसे ही मन और चित्त, जो समष्टि शक्तियों के अंश हैं, स्वभाव से ही शुद्ध हैं। बहुत ही निश्चित और प्राकृतिक ढंग से इनकी बनावट भी है और प्राकृतिक ढंग से इनका संचालन भी है। इसलिए जब तक मनुष्य अपनी ही भूल से विविध प्रकार के विकारों से मन और चित्त को खराब नहीं कर देता,

तब तक यह प्राकृतिक शक्तियाँ आदमी को तकलीफ नहीं देती हैं।

मैंने तो इस विषय में अध्ययन और अध्यापन में तीस-इकतीस वर्षों का समय लगाया। प्राकृतिक क्रियाओं का भार या दबाब अपने पर कब पड़ता है जब इनमें किसी प्रकार का विकार हो और अगर कोई विकार नहीं है तो बहुत सहज से सब काम होता रहता है और अपने पर दबाव नहीं पड़ता है। इस तरह से मन और चित्त को जब हम अपनी भूलों से गंदा कर देते हैं, उसमें तरह तरह के संस्कार अंकित कर देते हैं तब वे विकृत हो जाते हैं। और जब विकृत हो जाते हैं तो अपने को पता चलता है कि मेरे पास मन है, या मेरे पास चित्त है। काम करने को दो, तो आदमी काम नहीं कर सकता, क्योंकि मन नहीं लगता है। काम छोड़कर आराम करने को कहो, तो आराम से नहीं रह सकता है, क्योंकि भीतर भीतर बड़ी बेचैनी है। तो काम दो तो काम नहीं कर सके, आराम दो तो आराम न ले सके-यह स्वाभाविक बात नहीं है। यह सब Abnormality के symptoms हैं अस्वाभाविकता के चिह्न हैं। असामान्यता के लक्षण हैं।

तत्त्व तो एक ही है। एक ही अव्यक्त तत्त्व, असंख्य-असंख्य व्यक्त दृश्यों में व्यक्त हुआ। उसी में से सब कुछ बना है। उसी में से हम भाई बहन भी बने हैं। उसी में से स्थूल आकृतियाँ बनी हैं। उसी में से सूक्ष्म से सूक्ष्म शक्तियाँ निकली हैं। जैसे स्थूल शरीर की स्थूल क्रियायें हैं, ऐसे ही सूक्ष्म शरीर की सूक्ष्म क्रियायें हैं। सूक्ष्म शक्तियाँ जिनके द्वारा मन, चित्त आदि की रचना हुई और उनकी सूक्ष्म क्रियायें, जिनसे हम लोग परिचित होते रहते हैं, जिनका भार और दबाव अपने पर पड़ता रहता है-ये मौलिक रूप से कभी अशुद्ध थे नहीं। एक बात पक्की हो गई। अब अच्छी तरह से जान लीजिये, कि जानी हुई भूल को करते ही जाओगे तो उसके परिणामस्वरूप स्थूल, सूक्ष्म और कारण-सब स्तरों पर विकार पैदा होता चला जायेगा। उससे अशुद्धि आ जायेगी अशुद्धि आने से अपने को पता चलने लगेगा कि मेरे पास मन है, मेरे पास चित्त है, और उसकी यह दशा है।

अब शुद्धता की पहचान क्या है ? शुद्धता की पहचान यह है कि जब आप साधक के रूप में आँखें खोल कर जगत् की ओर देखें तो जगत् दिखाई दे और सेवा के रूप में राग- निवृत्ति का साधन करने का प्रश्न आवे तो सर्वेन्द्रियों की शक्तियाँ, बाह्य इन्द्रियां और अन्तः इन्द्रियाँ, कर्णेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ Sense organs and motor organs सबकी सब शक्तियाँ इकट्ठी होकर आपके साथ जुट जायें और आप सेवा में तल्लीन हो जायें और कार्य से फुरसत पायें, तो एक दम उधर से छूटते ही आपको अपने भीतर ही भीतर से विश्राम की अभिव्यक्ति होने लगे, शान्ति की अभिव्यक्ति होने लगे और जिस पन्थ के साधक आप हैं, उसी के अनुरूप निजस्वरूप में स्थित हो जायें, अथवा निज प्रभु के प्रेम के भाव में मग्न हो जायें। तो काम करते समय भी 'स्व' से भिन्न मन को जाता हुआ हम लोगों को महसूस नहीं करना चाहिये। यह मन तो कहीं और जा रहा है-ऐसा विभाजन अपने अनुभव में नहीं आना चाहिये। शान्त होने पर, विश्राम में आने पर, मूक सत्संग में, समर्पण योग में, कोई भी बात जो आपको पसन्द आवे, आप करेंगे।

उस शुद्ध चित्त में, उस शांत चित्त में, उसी शुद्ध और शांत मन में यह सामर्थ्य है कि उसकी जो शक्तियाँ हैं, वे आपके साथ जुट जायें। अभी कैसा लग रहा है ! अभी तो विभाजन लगता है। मनोविज्ञान में इसे Multiple personality कहते हैं, अर्थात् एक ही मनुष्य का व्यक्तित्व कई टुकड़ों में बँट गया है। कभी लगता है कि धन कमाने में पूरा मन लगाना चाहिये। कभी लगता है कि भाई, ठीक है बहुत कमा लिया, खा लिया, तो अब कमाये हुए धन से समाज की सेवा करने में लगना चाहिये। कभी लगता है कि भाई, कब तक करते रहेंगे। चलो एकान्त में शान्त बैठकर भजन करेंगे, तो कभी कुछ, कभी कुछ, थोड़ी थोड़ी देर में परिस्थिति बदलते रहते हैं। एक ही मनुष्य है, उसका एक ही व्यक्तित्व है और उसकी एक ही शक्ति है और जब यह

टुकड़ों-टुकड़ों में, विभिन्न भागों में बँट जाती है तो आदमी बहुत परेशान हो जाता है। दुर्बल हो जाता है, किसी काम में पूरी तरह से लगने की सामर्थ्य उसकी खत्म हो जाती है।

आपने सभी सन्त महानुभावों से सुना होगा, गुरुजनों से सुना होगा, सद्ग्रन्थों में पढ़ा होगा। साधक के लिए किसी भी साधना में एकनिष्ठ होने की बात कही जाती है। एकनिष्ठ होने का मतलब क्या है? कि आपकी सम्पूर्ण जीवनी शक्ति सत्य की एक ही दिशा में प्रवाहित हो। टुकड़ों-टुकड़ों में बँटे नहीं, लेकिन चित्त की अशुद्धि के कारण से, विकृति के कारण से, की हुई भूलों के परिणाम से जो विकार उत्पन्न हो गये-उनके कारण से मनुष्य की वृत्ति एक दिशा में नहीं रहती और एकनिष्ठ नहीं हो पाती है। जीवनी शक्ति का टुकड़ों टुकड़ों में बँट जाना तो योग के विपरीत दशा है और सारी शक्तियाँ मिल करके एक ही दिशा में गतिशील हों तो यह योग की दिशा हो गई। योग में और कोई खास बात नहीं है। बात केवल इतनी सी है कि जीवनी शक्ति विभाजित न रहे, टुकड़ों में बँटी हुई न रहे। एक केन्द्र पर केन्द्रित हो जाये तो आपका जो साध्य है, उसको याद कर लीजिये, जिस रूप में आपने स्वीकार किया है। आपका जो वर्तमान चित्र है उसको देख लीजिये। उसमें जो गलतियाँ मालूम होती हैं उनको छोड़ने का प्रयास कीजिये।

जीवन की दुर्बलताओं को मैंने अनुभव किया है। मैं जानती हूँ कि विवेक का अनादर करते जाने से ऐसी दुर्बलता व्यक्ति में आ जाती है। आँखों से दिख रहा है साफ-साफ कि पर-निन्दा में, पर-चर्चा में समय नहीं गँवाना चाहिये। फिर भी बातचीत के प्रवाह में हम पर-चर्चा में शामिल हो गये। इसका मनोवैज्ञानिक कारण यह है, कि वर्तमान में भीतर-भीतर नीरसता सताती है तो वृत्ति बहिर्मुखी हो जाती है। दूसरों की बातचीत करने में मन बहलाव हो जाता है। अपने भीतर अपनी

Inferiority हीनता की भावना सता रही है। क्या बताऊँ, इतने दिन हो गये मैंने अपने को प्रभु विश्वासी स्वीकार किया था। लेकिन आज तक मेरी प्रभु से भेंट नहीं हुई तो प्रभु विश्वासी साधक के लिए, भगवत् भक्त के लिए, यह कम दुःख की बात नहीं है कि मैं 'भक्त' भी मौजूद हूँ, मेरे आराध्य भगवान भी मौजूद हैं और फिर भी हमारी उनकी भेंट नहीं हुई। तब भी मुझे भूख लग रही है, खा रही हूँ, सो रही हूँ और मिथ्या अभिमान लेकर सिर ऊँचा करके समाज में घूम रही हूँ। यह मेरे लिए लज्जा की बात नहीं है क्या ?

अपने भीतर जब अपनी हीन भावना आदमी को सताती है तो वह उसको छिपाने, दबाने के लिए दूसरों की निन्दा में रस लेने लगता है। इन सब दशाओं का जब परिचय अपने को मिल जाता है तो साधक सावधान होता है और सावधानी इसमें हम क्या करेंगे ? मैं तो अधीर होकर सर्वसमर्थ प्रभु को पुकारती हूँ कि महाराज ! आपने बढ़िया-बढ़िया शक्ति, बढ़िया-बढ़िया बुद्धि सब अच्छा-अच्छा दिया था, लेकिन मैंने विवेक का अनादर करके, अपनी दुर्दशा करके इन सबको बीमार बना दिया। सबमें विकार पैदा कर दिया। मैं अब अत्यन्त दुर्बल हूँ। इसलिए हे समर्थ स्वामी ! मेरी मदद कीजिये। इतना तो अपने लिए सम्भव है ही।

जिन्होंने विश्वासपथ को नहीं अपनाया है वे ज्ञान के प्रकाश में, विवेक के प्रकाश में की हुई भूलों को मिटाने के लिए तत्पर हैं। भूतकाल की भूलों के कारण दुर्बलता तो उनमें भी आ गई थी। वे क्या करेंगे ? उनके लिए भी बहुत सहज बात है कि वे अपना चित्र देखें और अगर कोई त्रुटि स्पष्ट दिखाई दे, तो उस भूल को पहले मिटा दें। जबर्दस्ती अपने को अपराधी न मानें। अगर सचमुच भूल मालूम पड़े तो जिस भूल को मिटाये बिना आप शरीरों से तादात्म्य तोड़ने में असमर्थ हो गये हैं। तो पहले उस अशुद्धि को मिटा करके उसे शुद्ध

करना पड़ेगा, तब उसका संग छूटेगा- तो जिनभूलों को न मिटाने के कारण शरीरों से तादात्म्य तोड़ने की सामर्थ्य अपनी घट गई है, उन भूलों को अपने में देख करके जो सत्पथ के साधक हैं, उनको बड़ी वेदना होती है, गहरी लज्जा होती है, तब ये विश्वासियों के समान परमात्मा को पुकारते नहीं हैं लेकिन जीवन का जो सत्य है, जीवन का जो वास्तविक तत्त्व है वह बिना पुकारे ही उन निर्बल साधकों की मदद कर देता है। उनमें बल आ जाता है, उनके दोष मिट जाते हैं और उनको भी आगे बढ़ने का अवसर मिल जाता है।

इस प्रकार आप सभी भाई-बहन थोड़ा थोड़ा प्रयोग अभी से आरम्भ कर दीजिये। अभ्यास यहीं पर हो जायेगा। घर जाने पर भी कठिनाई नहीं होगी। किस प्रकार का कपड़ा पहनेंगे, किस प्रकार का भोजन करेंगे, किस प्रकार के मकान में रहेंगे, किस तरह की आसन मुद्रा करेंगे-इसमें तो आपकी अपनी स्वाधीनता है और गुरु ने जिसको जैसी सलाह दी हो, उसमें खूब विश्वास करके, उसका अनुसरण करते हुए आप व्यक्तिगत सत्संग को अपने जीवन का एक आवश्यक, परमावश्यक प्रोग्राम बना लीजिये तो बहुत मदद मिलेगी।

अब आगे क्या होगा ? बहुत बढ़िया बात हो जायगी। मैंने ऐसा अनुभव करके देखा है कि शरीरों से तादात्म्य से भी पहले अगर शरीर के भीतर की, स्थूल शरीर की बात मैं कह रही हूँ, कि स्थूल क्रियाओं में ठीक सन्तुलन चल रहा है तो अपने ही जीवन के मूल में विद्यमान जो शान्ति है, वह भीतर-भीतर प्रकट हो करके सब अंगों पर छा जाती है। यह योगवित् होने से पहले की तैयारी है। फिर क्या होता है ? बड़ी शांति भी मिलती है, बड़ी शक्ति भी मिलती है। इसी प्रकार से अपने लक्ष्य को याद कर लेने पर उसको प्रधानता दे देने से संसार के दूसरे सारे कार्य सहयोगी साधन बन जाते हैं, बाधक नहीं रहते हैं।

अभी की वर्तमान दशा क्या है ? वर्तमान दशा यह है, कि ठीक

तरह से रहने का इन्तजाम हो जाय, ठीक तरह से खाने का इन्तजाम हो जाय, घर से पत्र आया हो तो समय से उसके मिल जाने का भी इन्तजाम हो जाना चाहिये और Emergency में, जल्दी में जाना पड़े तो उसकी भी तैयारी होनी चाहये, इतना घनिष्ठ लगाव नाशवान जगत् से रख करके हम थोड़ी देर के लिए समाधि का आनन्द लेना चाहते हैं, तो मिल नहीं पाता है। क्यों नहीं हो पाता ? दिमाग तो लग गया इस सारे इन्तजाम में। क्यों लग गया भाई ? क्योंकि हम लोगों ने इस बात को प्रधानता दी है कि घर में सब कुशलता से बीत रहा है तो हम यहाँ बैठ के थोड़ा सा भजन कर लें। अगर जरूरत पड़ेगी तो हम चले जायेंगे। तो प्रधानता किसकी हुई ? प्रधानता हुई भौतिक जगत् व्यवहार में सन्तुलन बनाने की। इसकी प्रधानता हो गई और मन की, चित्त की शान्ति और शुद्धि और भगवद् भजन और योगवित् होना, समाधिस्थ होना-यह कहाँ रह गया ? कि बाहर का सब ठीक-ठाक रहेगा तब इसकी चेष्टा करेंगे। यह तो senseless बात हो गई। अब बाहर का सब ठीक-ठाक है, तो थोड़ी देर में बाहर का सब इन्तजाम उलट-पुलट हो जायेगा। उसकी चिन्ता में फँसा हुआ आदमी गंगाजी के तट पर बालू पर बैठ करके समाधि का आनन्द लेना चाहता है। तो आप कहेंगे कि क्या करें ? अरे, करोगे क्या ? जीवन का दृष्टिकोण बदलो ! सोचो कि मैं क्यों साँस ले रही हूँ ? मैं क्यों धरती पर पाँव रख रही हूँ ? मैं क्यों समाज का दिया हुआ अन्न ग्रहण कर रही हूँ। मैं क्यों प्रकृति की सहायता ले रही हूँ ? मैं क्यों प्रभु के दिये हुये अवसर को यहाँ गँवा रही हूँ ? इन सारी बातों के उत्तर में एक ही वाक्य आपको मिलना चाहिये कि भाई, मुझे तो साध्य से अभिन्न होना है। मुझे तो परमात्मा के प्रेम से जीवन को भरपूर करना है।

जीवन का जो लक्ष्य है उसको Primary मानेंगे तब न सब चिंतन उसमें जुट जायेगा, सब कर्म उसमें जुट जायेगा, सब कुछ उसमें लग

जायेगा। प्रधान मानते हैं हम लोग भौतिक व्यवस्था को, और सोचते हैं कि यह सारी व्यवस्था ठीक-ठाक रहेगी, और मौका मिलेगा तो थोड़ा भजन कर लेंगे। ज्यादा करेंगे सांसारिक व्यवस्था थोड़ा सा करेंगे भजन तो उसका परिणाम भी वही होगा। थोड़े भजन का थोड़ा फल और संसार के साथ ज्यादा लगाव करने का ज्यादा फल मिलेगा। तो बदलना चाहिये। क्या बदलियेगा ? सामान बदल दीजिये तो काम चल जायेगा ? वेष बदल दीजियेगा तो काम चल जायेगा ? स्टील की थाली हटा कर केले के पत्ते में खाना शुरू करियेगा तो बदल जायेगा ? यह सब नहीं है। जीवन के प्रति दृष्टिकोण बदलना चाहिये। दृष्टिकोण बदल गया तो बाकी सब अपने आप ही बदल जाता है। रहन-सहन सब अपने आप ही बदल जाता है। तो दृष्टिकोण बदलना-यह मेरी भाषा है। यह स्थूल जगत् के विज्ञान के आधार पर बनी हुई भाषा है।

अब स्वामीजी महाराज के मुख से मैंने क्या सुना ? उन्होंने कहा कि "भैय्या, कपड़ा बदलने से और सामान बदलने से पहले, इन सबको बदलना जरूरी तो होगा लेकिन पीछे, पहले क्या करोगे? पहले अहं बदलो।" अहं कैसे बदलता है ? भाई, अभी हम जी रहे थे सुख-भोग की दृष्टि से अभी हम जी रहे थे हाडमांस के पुतले के साथ, आंशिक के साथ सुख लेने के लिये। अब हम जी रहे हैं परम पवित्र, परम-मधुर, प्रेमस्वरूप परमात्मा का प्रेमी होने के लिए। अन्तर मालूम होता है? सुख के भोगी बने रहो और साधन पसन्द करो तो सिद्ध नहीं होता है साधना तो अपने आप ही जीवन में प्रकट हो जाने वाली चीज है। की हुई साधना साउन्ड अर्थात् ठोस होती ही नहीं है। जब अपने आप बन जाती है तो निरन्तर चलती रहती है। जिन भगवत् विश्वासियों ने प्रभु के प्रेम को जीवन में प्रधानता दी, बाकी सब उसके भीतर समाहित कर दिया, उनको याद करना नहीं पड़ता था। उनको क्षण-क्षण में प्यारे की याद आती ही रहती थी। ऐसी कोई घड़ी नहीं, ऐसा कोई क्षण नहीं,

कोई काम नहीं कि जिसके भीतर से उनको अपने प्यारे प्रभु की याद नहीं आती है। सब समय वह मधुर स्मृति-भीतर भीतर अहं को कोमल बनाती रहती है, तरल बनाती रहती है और मैंने प्रेमीजनों के पास बैठकर देखा है कि भीतर प्यारे की मधुर स्मृति जाग्रत हो गई, तो उनके लिए वृत्ति को बाहर करना कठिन होता है, स्वाभाविक रहता है भीतर-भीतर डूबे रहना। मैं बैठे-बैठे दर्शन करती रहती हूँ, आनन्दित होती रहती हूँ। अपने को कहती रहती हूँ, देख लो, एक तुम्हारी दशा है कि वृत्ति को अन्तर्मुख करने के लिए कितना प्रयास करना पड़ता है। इसलिये प्रयास करना पड़ता है कि जीवन के लक्ष्य को प्राथमिकता नहीं दी है।

तो आज का पाठ मैं यहीं खत्म करती हूँ। आज का समय बीत गया है। मुख्य-मुख्य बातें आप अपने लिए याद करलें। चलते-फिरते, विचार करते हुए आप अहं में परिवर्तन ला सकते हैं। सुखभोग की दृष्टि की जगह पर योगवित् होने को प्रधानता दे सकते हैं। असत् के संगजनित सुख का त्याग करके सत्संग के प्रकाश को प्रधानता दे सकते हैं । बैठे-बैठे फैसला हो जाता है, चलते-चलते फैसला हो जाता है, बातचीत करते-करते फैसला हो जाता है। समय नहीं लगता है। कोई कठिनाई नहीं होती है। कुछ नहीं। केवल आपकी सजगता इसके लिए पर्याप्त है। अब शान्त हो जाओ।

(60)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनों और भाइयो !

हम सब लोग मानव हैं। मानव होने के नाते साधक हैं और साधक के जीवन में वर्तमान में सफलता मिलनी चाहिए-यह एक

आवश्यक बात है। सफलता कैसे मिलती है ? इसी प्रश्न पर पिछले कई दिनों से हम लोग बातचीत कर रहे हैं। स्वामीजी महाराज की प्रणाली में एक शब्द का प्रयोग किया गया है- मूक सत्संग । इस शब्द का अर्थ कई साधक भाई-बहन पूछते हैं। जिन्होंने यह शब्द पहले से सुन रखा है, ''मूक सत्संग और नित्य योग" नाम की एक पुस्तिका भी महाराज जी की लिखाई हुई है, उसको भी जिन लोगों ने पढ़ा है, उन्हें कुछ-कुछ परिचय है। कुछ अपरिचित भाई बहन हैं; वे पूछ रहे हैं तो थोड़ा सा मैं उसका परिचय देती हूँ।

"मूक सत्संग"-इस शब्द का अर्थ है, कुछ न करने के द्वारा सत्य के संग में होने का अनुभव करना। 'मूक' शब्द का अर्थ सामान्यतया न बोलने से लिया जाता है, कोई बोलना बन्द कर दे तो कहते हैं कि आजकल वो मूक हो गये हैं तो केवल वाणी के द्वारा बोलने की क्रिया को बन्द कर देना-मूक होना कहलाता है। परन्तु स्वामीजी महाराज ने मूक सत्संग का यह अर्थ किया है कि किसी भी कारक अंग के द्वारा कुछ न करना-मूक हो जाना। अर्थात् केवल वाणी से बोलना छोड़ दो, ऐसा नहीं है; आँखों से देखना छोड़ दो, कानों से सुनना छोड़ दो, मन से सोचना छोड़ दो, कुछ भी करने की बात मत रखो, सब कुछ करना छोड़ दो-इसको उन्होंने मूक शब्द से प्रकट किया है और दूसरा शब्द रह गया सत्संग। तो सत्संग का अर्थ क्या है।

सत् के संग में हम सभी भाई-बहिन सदैव रहते ही हैं। सत् का संग कभी छूटता ही नहीं है। सत्य आपके अस्तित्व से कभी अलग होता नहीं है। सत्य की सत्ता से हम लोग कभी अलग हुए ही नहीं। तो वस्तुतः सत्य का संग नये सिरे से करना नहीं है। लेकिन असत् के संग से सत् की उपस्थिति का अपने को पता नहीं चलता। इसलिए असत् के संग को छोड़ने का नाम सत्संग रखा स्वामीजी महाराज ने। हम लोग सत्य की चर्चा करते हैं। यह सत् चर्चा कहलाती है और

ग्रन्थों को पढ़ो और उसमें से सद्विचारों को ग्रहण करो, मनन करो, सोचो, विचारो तो वह सत् चिन्तन कहलाता है; अच्छे काम करो, दूसरे लोगों के साथ भलाई का व्यवहार करो-यह सत्कर्म कहलाता है। तो सत्कर्म, सत्-चिन्तन, सत् चर्चा-ये सब पृष्ठभूमि है। सत्संग की तैयारी है।

सत् कर्म करने से हृदय उदार बनता है। सत् चिन्तन के द्वारा सत्-असत् के विभाजन की बात अपने सामने स्पष्ट होती है। सत् चर्चा के द्वारा हमारी पृष्ठभूमि तैयार होती है। यह सब कुछ करने के बाद अपने जाने हुये असत् का त्याग कर देना सत्संग कहलाता है। जिस कारण से हमारे ही भीतर विद्यमान सत्य की अभिव्यक्ति नहीं हो रही है उस कारण को मिटाना सत्संग कहलाता है, यह एक हिस्सा हुआ। अब दूसरी बात देखिये। जिस कारण से अपने ही में विद्यमान सत्य की उपस्थिति का हम लोगों को पता नहीं चल रहा है उस कारण को मिटा देने का बहुत ही स्वाभाविक फल यह होता है कि अपने ही में विद्यमान सत्य की उपस्थिति का अपने को पता चल जाता है। क्या-क्या पता चलता है ? कि जीवन के मूल में शान्ति विद्यमान है। इसलिए शान्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। बिना किसी बाहरी आधार के अपने ही में जीवन तत्त्व के रूप में शान्ति विद्यमान है और वह प्रकट हो जाती है, तो भीतर बाहर सब तरफ एकदम शान्ति छा जाती है।

शान्ति तत्त्व का प्राकट्य क्या प्रमाणित करता है कि बाहर से अपने जाने हुये असत् के संग का त्याग कर दिया तो अपने जीवन में मौलिक तत्त्व के रूप में जो शान्ति विद्यमान है वह प्रकट हो गई तो सत्य और उसकी उपस्थिति का अनुभव अपने को हो जाता है, ऐसा होता है।

मैं राँची में रहती थी। वहाँ शहर के बाहर एक संत का स्थान बना हुआ था। जहाँ वे रहा करते थे। वे महापुरुष अपने ही निज

स्वरूप में, अपनी ही शांति में सब समय प्रतिष्ठित रहते थे। जब जब वे वहाँ होते तो महाराज जी उनसे मिलने जरूर जाते। उस आश्रम में प्रवेश करते ही ऐसा लगता था कि वहाँ की हवा में ही शान्ति भरी हुई है। वृक्ष के पत्ते जैसे हिलना बन्द कर एकदम स्थिर हो गए हों-ऐसा दिखाई देता था। शान्ति का तत्त्व उनके भीतर बाहर ऐसा भरा रहता कि जैसे ही हम वहाँ जाकर बैठते, तो बिना चेष्टा किये, अपने आप भीतर की सब गतियाँ शांत होने लग जाती, जैसे किसी ने जादू कर दिया हो। तो जैसे ही आकर के उनके सामने खड़े हुए स्वामी जी महाराज, तो जहाँ के तहाँ खड़े ही रह गए। न हिलें, न डुलें, न वे आकर के इनको मिले, न ये आगे बढ़कर उनके पास पहुँचे। हम लोग खाली यह दृश्य देख रहे थे। बड़ा आनन्द छा रहा था। इधर वे अपनी शांति में मग्न हो गये, उधर स्वामीजी महाराज अपनी शांति में आप मग्न हो गये।

फिर आगे बढ़कर प्रज्ञानपादजी ने स्वामीजी को हृदय से लगाया। दोनों खूब मिले। उन सन्त का शरीर भी महाराजजी से करीब ७, ८ इंच ऊँचा था। बड़े भव्य पुरुष दिखते थे। फिर वे स्वामीजी का हाथ पकड़कर भीतर ले गये और जाकर के आसनों पर दोनों बैठ गये और फिर शांति में डूब गये।

स्वामीजी महाराज ने कहा, कि मुझे तो सबसे बढ़िया बात यही लगती है कि शरीर विश्व के काम आ जाय, अहं अभिमान शून्य हो जाय, हृदय परम-प्रेम से परिपूर्ण हो जाय। यही जीवन की सार्थकता है। प्रज्ञानपादजी बड़े प्रसन्न हुए और कहा, बहुत बढ़िया बात है। समर्थन कर दिया और कहा, "महाजनो येन गतः स पन्थाः" और फिर चुपचाप हो गये। कुछ देर तक ऐसे ही रहा।

यह कथा सुनाने का तात्पर्य मेरा यह है, कि मूक-सत्संग का अर्थ यह लेना होगा हम लोगों को कि सब प्रकार की भीतरी-बाहरी सूक्ष्म

और स्थूल क्रियाओं को अपनी ओर से करना छोड़ दो, जो होना है, वह तो होगा। साँस चल रही है, तो उसको रोकना नहीं है। रक्त का संचार शरीर में हो रहा है, तो उसको रोकना नहीं है। अपने आपसे जो हो रहा है उसको रोकना नहीं है। लेकिन, तुम जो कर रहे हो उसे करना बंद कर दो केवल वाणी की क्रिया नहीं, सब इन्द्रियों की क्रियाओं से असंग होने का अर्थ यह हुआ कि तीनों शरीरों से असंग हो जाइये। शरीरों की असंगता में एक बड़ी विलक्षणता यह है कि जो सत्य जहाँ का तहाँ विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का आपको पता चलने लग जाता है।

यह तो मैंने अपनी भाषा बनाई है, अपने को समझाने के लिये। "सत्य प्रकट हो गया" या "सत्य की प्राप्ति हो गई" ऐसा कहने का कोई अर्थ नहीं निकलता । सत्य अप्राप्त है ही नहीं तो उसकी प्राप्ति क्या होगी ? और अगर मैं कहूँ, कि सत्य की प्राप्ति हो गई, तो यह भाषा गलत हो जायेगी ऐसे कहने का अर्थ निकलेगा कि पहले सत्य अप्राप्त था। लेकिन नहीं, ऐसा नहीं है।

अभी यहीं पर बैठे-बैठे अपने व्यक्तित्व का आप अस्तित्व अनुभव कर रहे हैं कि 'मैं हूँ' और श्रोता हूँ ऐसा आपने स्वीकार किया है। तो 'मैं हूँ', मैं श्रोता हूँ, मैं सुन रही हूँ, मेरी समझ में आ रहा है। इस प्रकार भरी सभा में होते हुए भी हर भाई-बहन अपने एक स्वतन्त्र अस्तित्व का अनुभव कर रहा है या नहीं ? जी ? आपमें से बहुत से भाई-बहन ऐसे भी हैं, जो आस-पास में बैठे हुए लोगों की चंचल गति-मति देख करके भी उनके प्रति बेपरवाह होकर एकाग्र चित्त से सुन रहे हैं तो निश्चय ही वे अपने को एक स्वतन्त्र इकाई अनुभव कर रहे हैं। किस समय कर रहे हैं ? परिवार से लगाव बना हुआ है, तब भी कर रहे हैं। समाज से सम्बन्ध जुटाये हुए हैं, तब भी कर रहे हैं। शरीर में अनेकों प्रकार के रोग लगे हुए हैं, तब भी कर रहे हैं चित्त में कई तरह का

दुःख भरा हुआ है तब भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को आप अनुभव कर रहे है और अपने को इतना स्वाधीन मान रहे हैं कि मैं चाहूँ तो आस-पास के व्यक्तियों से, भाईयों से, बहनों से सम्बन्ध बनाकर रख सकता हूँ, उनके साथ मिलकर काम कर सकता हूँ और मैं नहीं चाहूँ तो मैं एकदम बिल्कुल अकेले अपने ढंग से विचार कर सकता हूँ, सुन सकता हूँ। इतनी स्वाधीनता आपको इसी वर्तमान में मालूम हो रही है। तो यह प्रमाण है कि उस परम स्वाधीन की सत्ता पर आपकी अपनी सत्ता आधारित है इसलिये सारे विश्व के बीच में शरीरों के साथ रहते हुए भी आप अपनी एक स्वतन्त्र सत्ता को अनुभव करते हैं।

जब कभी बाह्य जगत् की ओर आपकी दृष्टि जाती है और किसी भी दृश्य को आप देखते हैं, तो यह नहीं कहते हैं कि यह दृश्य मैं हूँ। आप यह कहते हैं कि यह मेरा दृश्य है। सच पूछिये तो दो ही विभाग दिखाई देते हैं-आपकी अपनी सत्ता और आपसे भिन्न प्रतीत होने वाला एक जगत्। ये दो ही हैं समग्र प्रतीति दृश्य की जाति में। आप उसको देखते हैं और अनुभव करते हैं कि मैंने देखा, यह मेरा दृश्य है, यह मेरा देखा हुआ है तो आप प्रतीत होने वाले जगत् से भिन्न अपनी एक सत्ता को अनुभव करते हैं। इसी से यह प्रमाणित होता है कि आपका उद्गम एक परम सत्ता से है जो इस समय भी आपके भीतर विद्यमान है। जीवन का जो मूल आधार है, उसी पर आधारित हमारा जीवन है, और उसको जो अनन्त प्रकाश है उसी प्रकार के आधार पर हमारी प्रतीति है। दोनों में स्पष्ट भेद हम लोगों को दिखाई देता है।

बाहर का दृश्य आप देखते हैं, तो बाहर का दृश्य भी आपको अपने से भिन्न दिखाई देता है। मैंने आकाश देखा, मैंने गंगा की धारा देखी, मैंने पक्षी की ध्वनि को सुना, मैंने हवा को चलते हुए उसका स्पर्श अनुभव किया-यह सब दृश्य आप देखते हैं। उसी तरह से आँखें बन्द कर लीजिये, कान बन्द कर लीजिये, बाहर की भौतिक उत्तेजनाओं

को ग्रहण करने वाले सब दरवाजे बन्द कर लीजिये, तो सूक्ष्म शरीर के आधार पर, सूक्ष्म जगत् के आधार पर पहले की प्रतीतियों के जो चित्र अंकित हैं, वे भी दृश्य के रूप में आपको दिखाई देने लग जाते हैं।

अब आप देखिये, कि यह भीतर का दृश्य भी आपसे भिन्न है। अगर भिन्न नहीं होता तो आपका दृश्य नहीं बनता। जो 'स्व' होता है, वह दृश्य नहीं बनता। अब यह स्वामीजी महाराज का सैद्धान्तिक सूत्र है, जीवन का दृश्य नहीं बनता, दृश्य जीवन नहीं होता। पकड़ में आती है बात ? जो 'स्व' में है वह आपका दृश्य नहीं बनेगा और जिसको आप दृश्य के रूप में देखते हैं, वह आपके 'स्व में नहीं है। अलग ही है अपने से। जिस उद्गम में से समस्त उत्पत्ति होती है, उसी उद्गम में से हम लोगों की उत्पत्ति हुई है, और जिसके प्रकाश में भीतरी-बाहरी समस्त दृश्यों की प्रतीति होती है, उसी के प्रकाश में हम भीतरी दृश्यों को देख रहे हैं। तो जब तक आपको बाहरी दृश्य की प्रतीति हो रही है, जब तक आपको भीतरी चित्रों की प्रतीति हो रही है, तब तक आप कैसे कह सकते हैं कि वह उद्गम नहीं है ? कह सकेंगे ? कोई सत्ता सबकी परम प्रकाशक, समस्त प्रतीति की प्रकाशक है। जब तक आपको प्रतीति हो रही है तब तक उस प्रकाशक को इन्कार कैसे करियेगा ? नहीं कर सकेंगे।

अभी सूर्योदय हो गया, प्रकाश और ताप भौतिक वायुमण्डल में फैल गया। उस प्रकाश और ताप को अनुभव करते हुए कोई कह सकता है कि सूर्य का उदय नहीं हुआ ? जी? नहीं कह सकता। उसी तरह से अपने 'मैं पन' का अनुभव करते हुए और भीतरी-बाहरी दृश्यों की प्रतीति के होते हुए कोई कह सकता है कि सर्व उत्पत्ति का आधार विद्यमान नहीं है कि सर्वशक्ति का प्रकाशक कहीं चला गया है ? कह सकता है कोई ? नहीं कह सकता। तो देखिये, किसी भी क्षण में

आपको यह कहने का कोई अवसर नहीं है कि अलख, अलौकिक अगोचर, अविनाशी, अनन्त तत्त्व का हमको पता नहीं है। ऐसा कहने का chance अवसर नहीं है भाई ।

मूक सत्संग के द्वारा स्वामीजी महाराज ने इस तथ्य को हम लोगों के सामने रक्खा कि चूँकि तुमने प्रतीत होने वाले जगत् से अपना सम्बन्ध मान लिया तो तुम्हारा सम्बन्ध मानना असत् है दृश्य तो दृश्य ही है। 'पर' तो पर ही है, वह 'स्व' हो नहीं सकता और जो तुम्हारा 'स्व' नहीं है, उससे तुमने तादात्म्य जोड़ लिया; जो तुम्हारा 'स्व' नहीं है उससे तुमने सम्बन्ध मान लिया तो यह सम्बन्ध मानना सर्वथा असत्य है। इस असत्य को छोड़ दो तो तुम्हारे ही भीतर इसी क्षण में जो सत्य विद्यमान है उसकी विद्यमानता का तुमको अनुभव हो जायेगा, अपना लगाव असत् से तोड़कर, सत्य के संग में होने का अनुभव करना 'मूक सत्संग' कहलाता है।

मूक सत्संग बड़ी जोरदार साधना है। किसी भी पंथ से चलिये, किसी भी प्रणाली से चलिये। चलते-चलते चित्त की शुद्धि होते-होते आखिरी बात यही होगी, कि जब असत् से आपका लगाव छूटेगा तो भीतर ही जो सत्य विद्यमान है, उसकी विभूतियों से अभिभूत होकर, सब प्रकार से भरपूर होकर, आपका सीमित अहं भाव जो बना हुआ है, वह भी उस अनन्त में समाहित हो जायेगा और जीवन पूर्ण हो जायेगा। सीमित अहं भाव की सीमा का गल जाना जीवन की पूर्णता कहलाती है।

महाराजजी ने एक क्रम बताया। जिससे मुझको सहायता मिली वह मैं आपको बता रही हूँ कि अपने जीवन का दृष्टिकोण बदलिये कि "श्रम है साधना, और विश्राम है साधन तत्त्व, जिससे साध्य से अभिन्नता होती है" श्रम से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है विश्राम। श्रम किया जाता है शरीर को ठीक रखने के लिये; और विश्राम लिया जाता है

अलौकिक जीवन से अभिन्न होने के लिये; श्रम किया जाता है सुन्दर समाज के निर्माण के लिये; विश्राम लिया जाता है अपने कल्याण के लिये। श्रम किया जाता है शरीर के राग की निवृत्ति के लिये; विश्राम लिया जाता है राग रहित जीवन में योग की अभिव्यक्ति के लिये। श्रम किया जाता है प्रभु की क्रियात्मक पूजा के लिये। विश्राम होता है भाव में सीमित अहम् को गलाने के लिये। अब आप बताइये कि आप श्रम कीजियेगा कि विश्राम लीजियेगा। अधिक महत्वपूर्ण कौन है ? विश्राम है। इस विषय में अधिक कह दिया है मैंने, इसलिये आप घबरा न जायें कि हे राम, श्रम बेकार हो गया, तो चलो अब आलस्य में पड़े रहेंगे तो बात नहीं है। वास्तव में विश्राम ही में जीवन है। श्रम मृत्यु है। मैं कोई अतिशयोक्ति की भाषा नहीं बोल रही हूँ, अतिरंजित नहीं कर रही हूँ मैं। श्रम में मुत्यु है-इस बात को आप अनुभव कर रहे हैं। श्रमित होते-होते शरीर में मुत्यु के लक्षण सब दिख रहे हैं। शक्तिहीनता आ रही है, वृद्धावस्था आ रही है, अनेक प्रकार के रोग सता रहे हैं, इन्द्रियों की शक्तियाँ शिथिल हो रही हैं, स्मरण शक्ति कमजोर पड़ रही है, अब सब बातें याद नहीं रहती हैं। घर का हिसाब कितना छोड़ने का इरादा तो नहीं था लेकिन हिसाब याद ही नहीं रहता। क्या करें, बेबसी में लड़कों को काम सौंपना ही पड़ेगा। वे चाहें जैसे करें। इस प्रकार धीरे-धीरे श्रम से मृत्यु की ओर बढ़ रहे हैं तो श्रम में मृत्यु है।

दूसरी ओर विश्राम में शांति है, विश्राम में अलौकिक शक्तियों का प्राकट्य है, अलौकिक शक्तियों का प्रवाह है, जो जीवनी शक्ति को समेट कर, ले जाकर के उद्‌गम में विलीन कर देती है। जो सीमित था वह असीम में समाहित हो गया तो जीवन पूर्ण हो गया-इसका नाम मूक-सत्संग है।

एक प्रश्न यह भी है कि विश्राम का महत्त्व है जीवन की अभिव्यक्ति के लिये, तो फिर श्रम का क्या होगा ? तो श्रम का भी

महत्त्व है। किसलिये ? विश्राम सम्पादन में सहयोगी होने के लिये। श्रम किये बिना तुम रह नहीं सकते। तो श्रम किस ढंग से करें ? ऐसे ढंग से करो कि तुम्हारा सारा श्रम विश्राम में समाहित हो जाये। जो कहना है सही ढंग से कह दो, जनहित की भावना से कह दो, प्रियता और मधुरता से कह दो, सत्यता से कह दो। ठीक ढंग से कहने का काम करने दो तो वाणी की शक्ति विश्राम में लीन हो जायेगी। और दूसरों का दोष देखकर, दूसरों को छोटा समझ कर, अपने में अभिमान लेकर दूसरों को बातों का खण्डन करने के लिए बोलोगे तो वाणी से लगाव नहीं टूटेगा। अभिमान का पोषण होता जायेगा, वाणी की शक्ति का दुरुपयोग होता जायेगा। इसलिये मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में बोलना भी साधन है, सुनना भी साधन है। बोलने का श्रम भी आप लोगों को सुनने के श्रम से विश्राम देने के लिये है और सुनने का श्रम भी विश्राम देने के लिये है।

यहाँ से उठने के बाद चलते-फिरते, दूसरे-दूसरे कार्यक्रमों में लगे हुये भी यदि आपने अपने दृष्टिकोण को बदला कि भाई, श्रम का स्थान जीवन में क्या है ? कि विश्राम सम्पादन में सहयोगी होना चाहिये। भोग प्रवृत्तियों का श्रम आपको असाधन में आबद्ध करेगा। मिथ्या अभिमान के पोषण का श्रम आपको सत्य से दूर करेगा। अनावश्यक बातचीत में लगे रहना, पर-चर्चा में, पर-निन्दा में दूसरों की आलोचना में जिससे किसी का भी लाभ नहीं होने वाला है, इस तरह की चर्चा में साधक समाज को शामिल नहीं होना चाहिये।

यदि आप मूक सत्संग को किसी भी प्रकार की साधना की सफलता के लिये आवश्यक मानते हैं तो श्रम और विश्राम का संबंध ऐसा बनाइये कि सब श्रम विश्राम में जाकर खत्म हो जाये। यह वैज्ञानिक सत्य भी है कि शान्ति में से सारी गतियों की उत्पत्ति होती है और सब गतियों का अन्त भी शान्ति में होता है। सब प्रकार की गति

जाकर शान्ति में ही डूबेगी। अगर शांति में नहीं डूबेगी तो गति अखण्ड हो ही नहीं सकती, तो कहाँ जायेगी ? अब बोलना शुरू किया है मैंने, तो अखण्ड रूप से बोलती रह सकती हूँ मैं ? छोड़ना पड़ेगा। तो बोलने का अन्त कहाँ होगा ? न बोलने में। करने का अन्त कहाँ होगा ? न करने में। यह क्रम इतना वैज्ञानिक है और इसमें दार्शनिकता क्या है ? कि आपको अपने अलौकिक अस्तित्व में विलीन होना है। आपको अपने अविनाशी जीवन का अनुभव करना है तो नाशवान् शक्तियों से संचालित न होना और नाशवान् शरीरों से असंग होना अनिवार्य है। जब तक कुछ करने की बात सोचते रहेंगे तब तक कारक अंगों से असंग नहीं हो सकेंगे। इसलिये भी सब कुछ करने के बाद न करना आवश्यक है।

इसी सिलसिले में मैंने ईश्वरविश्वासी की दृष्टि से क्रियात्मक सेवा पूजा के बाद भावात्मक जीवन में रहने की सलाह दी थी। भाई, ईश्वरविश्वासी हैं तो उनकी दी हुई शक्ति के द्वारा उनकी प्यारी-प्यारी सृष्टि की सेवा करो और सेवा-पूजा के अन्त में उनकी याद में शान्त हो जाओ। समर्पण भाव को लेकर, उनकी कृपा शक्ति का आश्रय लेकर, कुछ समय के लिये चुपचाप रहो। कुछ न करो। समर्पण योग भी ईश्वरविश्वासियों का मूक सत्संग है। इन्द्रियों को विषय विमुख करना, मन को निर्विकल्प करना, बुद्धि को सम करना, कारण शरीर की स्थिति की शान्ति में भी आबद्ध न रहना-यह विचार पन्थ के साधकों का मूक सत्संग है। मूक सत्संग में यह सब शामिल है। विचार के पंथ से भी, विश्वास के पन्थ से भी। किसी भी प्रकार से जो कुछ करने वाला भाग है उसको विश्राम का सहयोगी साधन मान कर ऐसे बढ़िया ढंग से सांगोपांग किया जाये कि करने के बाद न करने की स्थिति में हम सब रह सकें।

और मूक [illegible]

"देखो, बहुत अधिक समय नहीं लगता है। केवल तुम्हारी भीतरी, बाहरी वृत्तियों को शान्त होने में जो समय लगे सो लगे। अगर तुम अहंकृति रहित होकर गिन करके केवल पन्द्रह मिनिट के लिये शान्ति में स्थित रह सको, तो उतनी ही देर में तीनों शरीरों से लगाव छूट जायेगा। शरीरों के अतिरिक्त तुम्हारा अपना एक स्वतन्त्र अस्तित्व है जिसकी कोई सीमा नहीं है, जिसमें धरती आसमान नहीं है, जिसमें काल और स्थान की कोई परिधि नहीं है। उस प्रकार के एक स्वाधीन आनन्दमय अस्तित्व का अनुभव तुमको हो जायेगा।" तो मैंने उनके कहने के अनुसार किया हो, - ऐसा दावा मैं नहीं कर सकती।

लेकिन मूक सत्संग की घड़ी में संत के पास बैठे ही बैठे, उनकी कृपा से, परम कृपालु प्रभु की कृपा से इस प्रकार के अनुभव आते रहे कि सत्य के संग में होने का प्रत्यक्ष अनुभव अपने को हो जाता था। लेकिन अभी क्या है ? अभी तो शरीर के संग में होने का ऐसा अनुभव होता है कि बैठे-बैठे बहुत देर हो गई तो अंग दुखने लगा। परन्तु यदि आप शान्त हो गए तो कारक अंगों की सब क्रियायें जीवनी शक्ति के स्रोत में आकर समाहित हो जायेंगी। वही तो अपना उद्गम है, अपना वास्तविक जीवन है, अपने परम प्रेमास्पद ही तो हैं ऐसा अनुभव मूक सत्संग की घड़ी में शान्ति की गहराई में हर एक साधक को हो सकता है, साधन-काल में हो सकता है। मेरे साथ ऐसा कई बार हुआ है। इस प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर आप भाई-बहिनों को विश्वास दिलाने की चेष्टा कर रही हूँ। पत्र-पुष्प के रूप में, सन्त और भगवन्त का दिया हुआ जो सत्य मेरे पास है, वह आपकी सेवा में अर्पित है, कृपा पूर्वक स्वीकार करें।

(61)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

साधक, साधन, साध्य और सिद्धि-इन चार शब्दों से हम सब लोगों का बड़ा सम्बन्ध है। सबसे पहली बात है कि हम अपने को साधक स्वीकार करें। साधक की स्वीकृति का अर्थ क्या है ? कि जिस समय से अपने को साधक कहकर स्वीकार करें, उस समय के बाद फिर कभी किसी प्रकार के असाधन के कार्य में हाथ नहीं डालना चाहिये।

जिस समय आपने वैवाहिक जीवन को स्वीकार किया, अपने को गृहस्थ माना, वैवाहिक सम्बन्ध में अपने को डाला, उसके बाद फिर कभी यह ख्याल नहीं किया कि मैं विवाहित नहीं हूँ। जी -? ऐसा तो नहीं हुआ न? तो अपने को साधक स्वीकार करना बहुत जरूरी है इस बात के लिये, कि मरे जीवन में साधना सजीव हो जाये। भूल क्या होती है ? कि थोड़ी देर के लिये हम अपने को साधक कहते हैं, थोड़ी देर के लिये हम साधना में लगते हैं निश्चित समय जैसे हम लोगों ने टाइम-टेबिल बना लिया है कि सवेरे एक घन्टे, दो घन्टे, हम साधना में रहेंगे। शेष समय दूसरी तरह चलेगा।

जीवन में असाधन के रहते हुए किसी भी प्रकार की साधना कभी सफल नहीं होती है। तो पहली बात यह है कि आप सभी सत्संग में आते हैं और अपने भीतर के दुःख-द्वन्द्व को मिटाना चाहते हैं। चिन्ता, भय से मुक्त होना चाहते हैं, परमानन्द चाहते हैं, योगानन्द चाहते हैं, ब्रह्मानन्द चाहते हैं, निजानन्द चाहते हैं, प्रेमानन्द चाहते हैं यह सब हम लोगों के साध्य के रूप में है। यह सब चाहिये अपने को-ऐसा जीवन का लक्ष्य है। पर जीवन में साधना हम थोड़ी देर के लिये रखते हैं और शेष समय में मालूम नहीं और क्या क्या करते हैं एक बात आप सभी [illegible] होने के कारण अपने को साधक

स्वीकार करना बहुत जरूरी है। स्वामीजी महाराज ने तो यहाँ तक कहा-"जो मनुष्य सत्संग के द्वारा सत्संग के प्रकाश में साधक के ढंग की जिन्दगी नहीं बिताता है वह मनुष्य संज्ञा से हीन हो गया, वह प्राणी संज्ञा में आ गया।

मनुष्य के जीवन की महत्ता तभी चरितार्थ होती है जबकि वह अपने को साधक स्वीकार करे ! उन्होंने यों लिया है कि मानव माने साधक, साधक माने मानव। मानव शब्द से जिसको सम्बोधित किया जाता है, स्वभाव से ही उसको साधक होकर रहना चाहिये। इस हिसाब से हम लोगों को क्या करना चाहिये ? यह बात छोड़ दीजिये कि अब तक हम लोगों ने क्या किया। सत्संग सुना, उसका भी प्रभाव है। सद्‌ग्रन्थों को पढ़ा, तो उनका भी अपने पर प्रभाव है और उन सारी बातों को लेकर के आज हम लोगों ने साहस किया है कि हम अपने को साधक कहकर स्वीकार करेंगे। तो साधक होने के नाते एक बड़ा भारी असर यह होना चाहिये कि शरीरों के साथ, परिवार और समाज के साथ व्यवहार करने में किसी तरह का असाधन न आने पावे। दूसरी बड़ी-बड़ी बातों को अभी छोड़ दीजिये, शरीर की बात ले लीजिये।

अगर अपने को साधक स्वीकार किया है तो क्या आप शरीर को आलस्य में पड़े रहने देंगे ? आलस्यजनित सुख लेंगे, कि शरीर को श्रमी बनायेंगे ? आलस्य त्याग देना चाहिये ! शरीर की सेवा के लिए सफाई और स्नान; भोजन और विश्राम-यह सब जिस शरीर को जितनी आवश्यकता है, उतने ही में उसका काम पूरा करना है। अब हमको जो खाद्य पदार्थ अनुकूल नहीं पड़ता है परन्तु स्वाद के वश होकर हम खा लेते हैं तो शरीर में रोग प्रवेश कर जाता है। फिर उसके लिये दवाई, इलाज का इन्तजाम करते हैं। तो यह साधक का जीवन नहीं है।

इस युग के महापुरुष महात्मा गाँधी ने अपने स्वास्थ्य सम्बन्धी विचारों में एक जगह लिखा है कि बीमार होना मनुष्य के लिये लज्जा

की बात होनी चाहिये। क्योंकि स्वास्थ्य के नियमों का उसने उल्लंघन किया, तो बीमार हुआ। तो सर्वांश में यह बात पक्की न भी उतरे तब भी, साधक होने के नाते, कम से कम हमको इतना ध्यान तो जरूर ही रखना चाहिये कि मन की खुशी के लिये, मन की उमंग को पूरा करने के लिये शरीर को रोगी न होने दें। शरीर के सुख को ध्यान में रखकर जो नहीं करना चाहिये, सो करते हैं हम, तो मन रोगी हो जाता है, दूषित हो जाता है। अपने व्यक्तिगत सुख की सामग्री जुटाई है आपने। परिवार में, पड़ोसियों में, कुटुम्बियों में सम्बन्धियों में कोई ऐसा व्यक्ति भी आपकी जानकारी में है कि जिसको सहायता की ज्यादा जरूरत है ? तो अपने सुख का ख्याल करके हम खायेंगे, पहनेंगे, सुख से रहेंगे- इस बात का ध्यान करके अगर आँखों के सामने आये हुए दुःखी को देखकर आँख बन्द कर ली जाये तो हृदय कठोर और मन दूषित हो जायेगा कि नहीं?

इन बातों पर सामान्यतः ध्यान नहीं दिया जाता है। साधन शब्द का अर्थ यह लिया जाता है कि आप सिद्ध आसन पर बैठते हैं कि नहीं ? प्रतिदिन काम करते हैं कि नहीं ? अगर साकार के उपासक हैं तो पूजा पाठ करते हैं कि नहीं ? अध्ययन करते हैं कि नहीं ? गुरु से मन्त्र की दीक्षा ली है कि नहीं ? ठीक है, मनुष्य मनुष्य है। देहधारी होने के कारण शरीर के तादात्म्य से बुद्धि उसकी स्थूल स्तर पर आ गई है तो इन सब बातों का भी अर्थ है। अपनी स्वीकृति का दृढ़ करने में ये बातें सहायक होती हैं। लेकिन जो खास दिनभर का 'रूटीन' है जीने का, उसमें अगर ऐसा व्यवहार रखे कि भाई, यह ठीक है कि पूजा तो हम दो घन्टे करते हैं; ध्यान और भजन, स्वाध्याय और मनन तो हम सवेरे तीन-तीन घन्टे तक करते हैं-बहुत अच्छी बात है। विधि-विधान से करते हैं लेकिन दिन-भर के व्यवहार में इस बात का ध्यान नहीं रखते कि शरीर की सेवा के लिये मन को दूषित न करें। मन की

खुशी के लिये शरीर को रोगी न होने दें। एक शरीर को खुशी रखने के लिये दूसरों के दुःख की ओर से आँखें बन्द कर लें तो हृदय की कठोरता बढ़ जायेगी। स्वामीजी महाराज ने कर्त्तव्य विज्ञान में इस बात को बड़ा महत्त्व दिया कि जो सुख दूसरों को दुःख देकर प्राप्त होता है वह सर्वनाश करता है।

अब कितनी प्रकार की खाद्य सामग्री है जिसमें कई प्रकार की मिलावट कर दी जाती है, सिर्फ इस उद्देश्य से कि किसी तरह जल्दी जल्दी सेठ बन जायें, अधिक आमदनी कर लें, व्यापार में खूब लाभ हो जाये। हो गया लाभ। अब मुझे दया आती है, बड़ा दुःख लगता है। मैं सोचती हूँ कि कितने भी करोड़पति हो जाओ, खाओगे तो दो रोटी ही। अरे, दो नहीं तो चार, चार नहीं तो छः। उससे ज्यादा एक समय में, करोड़पति होने से, कोई बहुत ज्यादा खा-पी लेता है, क्यों ? शरीर की आवश्यकताएँ तो लगभग सब किसी की एक-सी ही हैं। एक सीमा के भीतर ही हैं। लेकिन केवल अपना एक झूठा सन्तोष, कि मैंने खूब धन कमा लिया, मैंने बढ़िया सामान बना लिया, मैंने बच्चों के लिये काफी इन्तजाम कर लिया-ऐसा सोच कर कि दूसरों को मेरे काम से क्या तकलीफ हो रही है- इस पर जो ध्यान नहीं देता वह धर्मात्मा नहीं हो सकता।

स्वामीजी महाराज ने मनुष्य के जीवन में साधना के प्रारम्भ से ही धर्मात्मा होने पर बहुत जोर दिया है।

धर्मात्मा होने का अर्थ क्या है ? कर्त्तव्यनिष्ठ होना। धर्मात्मा होने का अर्थ क्या है ? कि थोड़े से मोह के सम्बन्धियों को सुख देने के लिये वृहत् समाज को नुकसान न पहुँचाना। जो सुख दूसरों को दुःख देकर आता हो वह सुख धर्मात्मा पुरुष तो नहीं चाहिए। मनुष्य, मनुष्य नहीं है अगर उसके जीवन में कर्त्तव्यनिष्ठा नहीं है तो। दूसरों से आप कर्त्तव्यपालन की आशा रखते हैं। दरवाजे पर पहरेदार बैठाते हैं और

आशा रखते हैं कि वह ईमानदारी से पहरा दे। पिता होकर पुत्र से आशा करते है कि वह आज्ञाकारी हो। पुत्र होकर पिता से आशा करते हैं कि पिता मेरी रक्षा करे। मेरी जरूरत पूरी करें। मेरे काम में मदद दें। तो बाकी सब बातों को छोड़ दीजिये। शुद्ध भौतिकवाद की दृष्टि से विचार करिये।

भौतिकवाद की दृष्टि क्या है ? कि प्रकृति की रचना में दुर्बल और सबल, दोनों प्रकार के प्राणी हैं। सबल और दुर्बल एक ही सृष्टि में एक साथ, एक समय में रहते हैं। तो सबल के द्वारा दुर्बलों की रक्षा होनी चाहिए। अगर सबल व्यक्ति दुर्बल की रक्षा करने की नहीं सोचता है तो उसको भौतिकवादी नहीं कह सकेंगे। बड़ा भारी भ्रम हो गया समाज को। लोग सोचते हैं कि जहाँ-जहाँ अधिक सुख दिखाई देता है सब छीन करके बाँट दें और छीनते न बने, रखते न बने तो आग लगा के जला दें। हम भौतिकवादी हो गये। यह गलत बात है। प्रकृति की सम्पत्ति आपने बरबाद कर दी। सुखियों को देखकर दर्द हो रहा है। तो जिन-जिन महापुरुषों के दिल में दुःखीजनों के प्रति दर्द पैदा हुआ, वे महापुरुष अपना व्यक्तिगत सुख भूल गये। जिन-जिन कर्त्तव्यनिष्ठ, धर्मपरायण व्यक्तियों के जीवन में दुःखीजन का दुःख भर जाता है, वे अपने व्यक्तिगत सुख को भूल जाते हैं, व्यक्तिगत सुख ले ही नहीं सकते, क्यों ? क्योंकि वे मानव हैं शुद्ध भौतिकवाद की दृष्टि से आप विचार करें तो यह देखा हुआ जगत्-अगर इसी को सत्य माना जाये,- तो इसमें से दो प्राणियों को, दो व्यक्तियों को सुख देने के लिये दस को नुकसान पहुँचाना कहाँ का न्याय हुआ ? गलत बात हो गई न।

स्वामीजी महाराज ने भौतिकवाद, अध्यात्मवाद और आस्तिकवाद तीनों के दार्शनिक दृष्टिकोणों को मानव जीवन को सुन्दर बनाने के लिए बहुत आवश्यक माना। शरीर लेकर संसार में हम रह रहे हैं तो भौतिकवादी का पहला मन्त्र क्या है ? कि जगत् के नाते सभी को

अपना मानो। प्रकृति चला रही है तो प्रकृति के रचे हुए जो भी प्राणी हैं जो भी शरीरधारी हैं, मनुष्य हैं, पशु-पक्षी हैं, लता-पेड़ वनस्पति, पौधे हैं, सबके प्रति अपनेपन का भाव-भौतिकवाद का मूल मन्त्र है। दूसरों को दुःखी देखते हुए स्वयं अकेले सुख भोगना भौतिकवाद नहीं है, भोगवाद है। दूसरों को सुखी देखकर, उसे छीन झपट कर विध्वंस कर देना, नाश कर देना-भौतिकवाद नहीं है, बदतमीजी वाद है। स्वामीजी महाराज के शब्दों का प्रयोग कर रही हूँ मैं। इसलिए निधड़क बोलती हूँ। मुझे डर नहीं लगता है। मेरा विश्वास है कि महाराज जी को दिव्य-दृष्टि थी, और उन्होंने जो देखा, जो सही माना, सो कह दिया।

अब अपन लोगों के लिये इस समय कौन सी बात ग्रहण करने के लायक है ? अपन लोग न भौतिकवादी हैं, न शुद्ध अध्यात्मवादी हैं, न शुद्ध आस्तिकवादी हैं। मिला-जुला हुआ-सा मामला चल रहा है। थोड़ा गरीबों के लिये दिल में दर्द भी है, थोड़ा ज्ञान-वैराग्य के लिये भी गुंजाइश है और थोड़ा ईश्वर के लिये भी स्थान है। जी ? मिली-जुली हुई बातें हैं। थोड़ा भगवान को भी मानते हैं हम लोग। थोड़ा ज्ञान का प्रसंग जब सुनते हैं तो विरक्ति भी आती है, निजस्वरूप की चर्चा भी होती है-लेकिन कर्त्तव्यपरायणता, धर्मपरायणता मनुष्य के साधक होने के लिए बहुत ही उपयोगी है।

थोड़ा-सा इस अन्तर की बात आप सुन लीजिये, क्योंकि हम लोग सभी अभी तक शरीर से तादात्म्य नहीं तोड़ सके हैं। मैं गृहस्थ हूँ-इस स्वीकृति को अभी तक हम लोगों में से बहुतों ने बदला नहीं है। कुछ लोगों के गृहस्थी होने की आयु चल रही है और कुछ लोगों के गृहस्थ होने का समय निकल चुका है, और फिर भी वह अपने को गृहस्थ मानने की भूल करते जा रहे हैं। यह सब प्रारम्भिक बातें हैं, परन्तु इन बातों पर ध्यान न दिया जाए, अपने को साधक स्वीकार न करो, जीवन में से सब प्रकार के असाधनों को खत्म न कर दो, तो

किया हुआ ध्यान, किया हुआ जप, की हुई साधना, किया हुआ नित्य-नियम ऐसा सजीव नहीं होता कि आपको लगे-कि मेरा जीवन पूर्ण हो गया, अब कुछ करना शेष नहीं है।

साधन के जो विध्यात्मक रूप हैं, जिनकी महिमा हम लोगों ने सुन रखी है, उसके साथ अगर असाधन को मिटाने का प्रयास भी रहेगा तो किया हुआ ध्यान, किया हुआ जप सब आपके जीवन में फलित हो जायेगा, पूरा हो जायेगा। बहुत मदद मिल जायेगी। और असाधन को मिटाने का ध्यान नहीं रखा, तो जीवन के भीतरी तह में असाधन बैठा है और ऊपर से साधन की चेष्टा कर रहे हैं, तो अपने को सफलता नहीं मिलेगी। क्या करें, ध्यान करना चाहते हैं तो अपने पर ध्यान स्थिर होता ही नही हैं ? क्या करें, भगवत् चिन्तन करना चाहते हैं तो जबरदस्ती संसार का चिन्तन उसमें घुस जाता है ? क्या करें, भगवान को याद करना चाहते हैं तो मरे हुए कुटुम्बियों का शोक हृदय में भर जाता है, बेचैनी हो जाती है, उनकी याद आने लगती है। कैसे करें?

स्वामीजी महाराज ने यह दृष्टिकोण दिया साधक समाज को, कि भाई देखो, संसार की नश्वरता से, संसार की परिवर्तनशीलता से और उसके सम्पर्क में रहने से जो असन्तोष जीवन में पैदा हुआ, उस असन्तोष से दुःखी होकर, जैसा सुखमय परिवार देखना चाहते थे, नहीं मिला; जैसी पत्नी चाहिये थी वैसी पत्नी नहीं मिली; जैसा पति चाहिये वैसा पति नहीं मिला; जैसी सन्तान चाहिये थी वैसी सन्तान नहीं मिली, जैसा मकान चाहिये वैसा मकान नहीं मिला। अनुकूल परिस्थिति नहीं मिली, तो दुःखी होकर आदमी साधक बनने चला है। सोच रहा है कि भाई, संसार के सम्पर्क से आराम तो मिल ही नहीं रहा है। अब चलो, जरा सन्तों के पास चल करके बैठें। कुछ साधन करें तो मन की अशान्ति मिटे। यह बात है कि नहीं ? मैंने तो ऐसे ही सन्त के शरण

में बैठना पसन्द किया। दुनिया में अपने लिये बहुत कुछ किया, उससे सन्तोष नहीं मिला तो मैंने कहा चलो, अब जरा सन्तों के पास बैठकर देख लें कि उनके पास भी कुछ बढ़िया चीज है कि नहीं है।

श्रद्धा भक्ति से मैं नहीं आयी थी। आदमी को इसकी भी आवश्यकता होती है। तो महाराजजी कहते हैं भाई, संसार की ओर से थका हुआ, काम, क्रोध, लोभ, मोह से पीड़ित हुआ, परिस्थितियों की प्रतिकूलता से परेशान होकर के आदमी सन्तजनों के पास आता है कि साधक बनेंगे, साधन, करेंगे तो दुःख मिटेगा। संसार की पराधीनता से पीड़ित होकर के आए। अब मैं भी साधना के नाम पर भार और लाद दूँ तुम्हारे सिर पर, कि तुम ऐसी हो, वैसी हो। अनुभव करो कि जितना धन कमाना चाहते थे उतना नहीं कमा सके। अब उससे ऊँचे दर्जे की बेबसी अनुभव करो कि जितना जप करना चाहते हैं उतना नहीं कर पाते। सभी बच्चों को खुश नहीं रख सके। बहिनों की ओर से सुनने को मिलता है कि जिन्दगी खपा दी हमने पति के परिवार के लिए, लेकिन परिवार के लोग प्रसन्न नहीं हुए। एक बेबसी तो संसार की हो सकती है और थका हुआ आदमी इधर की ओर से आ करके चला है साधक बनने। तो साधना भी इस प्रकार का भार हो गयी आपके सिर पर कि ध्यान लगाना चाहते हैं तो नहीं लगता है भगवत् चिन्तन करना चाहते हैं तो संसार की याद आती है। स्वामी जी महाराज कहते हैं कि भैया, संसार से तो तुम्हारे सिर पर भार लद गया था। मेरे पास तुम आए हो भार से मुक्त होने के लिये तो मैं साधना को डबल भार के रूप में तुम्हारे ऊपर कैसे लाद दूँ। कैसे कह दू कि ऐसा करो, वैसा करो। और तुम करने बैठों और हारते रहो। इधर भी भार से थके थे उधर भी भार से थक जाओगे। ऐसा होता है कि नहीं ? जी ? ....होता है।

शरीरों की अधीनता स्वीकार कर जहाँ सुख लेना पसन्द किया,

वहाँ से मुझे दुःख मिला । लेकिन सत्संग के प्रकाश में जब अपने को साधक स्वीकार करेंगे और जीवन को साधन से बदलना चाहेंगे तो तत्काल ही हमारे जीवन में हल्कापन आना चाहिये, पराधीनता मिटनी चाहिये, दुःख का भार उतरना चाहिये, जीवन में रस आना चाहिये। सबसे पहली बात है कि शान्ति मिलनी चाहिये। उसी का नाम है साधन। नहीं तो क्या है ? मैंने अनुभव करके देखा है। पराधीनताओं से परेशान हुई मैं जब सन्त की शरण में बैठी, उनसे मैंने प्रश्न किये, तो मैंने देखा कि उनके उत्तरों से मेरी समस्या हल होती जा रही है। वहाँ बैठे ही बैठे मैंने पूछा कि शरीर में बल नहीं है तो क्या करें ? उस पर सन्त ने कहा कि सत्य की अभिव्यक्ति के लिये शारीरिक बल नहीं चाहिये। यह सुनते ही मेरा शरीर के निर्बल होने का दुःख खत्म हो गया। चलो इसमें बल की जरूरत नहीं है। किसी के पास धन नहीं है, अनुभवी सन्त सुना देते हैं-"भैया, भगवत् प्राप्ति के लिये धन की अपेक्षा नहीं है" तो निर्धन आदमी उसी समय आश्वस्त हो जाता है।

मैंने एक सभा में ऐसे ही एक बार सुनाया कि ऐसे-ऐसे व्यक्ति जिनके शरीर में बल नहीं है, जिनके पास धन नहीं है, जिनके कुटुम्बी अनुकूल नहीं हैं उनमें भी सत्य की अभिव्यक्ति होती है। खत्म होने पर एक बीमार महिला उठकर आई और मुझसे चिपट कर खूब रोने लगी। मैंने कहा-क्यों रो रही हो ? क्या बात है ? तो कहने लगी कि आप कहती हैं कि रोगी शरीर है तो भी कोई बात नहीं, भगवान मिलते हैं। मैंने कहा, हाँ। मैं कहती हूँ, मिलते हैं। तो कहने लगी आठ बरस से मैं बीमार हूँ। सास और पति मेरी सेवा में लगे हैं, मेरे दिल में बड़ा दुःख है कि सास की सेवा मुझे करनी चाहिये, पति की सेवा मुझे करनी चाहिये थी और उल्टे मैं इन लोगों की सेवा ले रही हूँ। तो मैं बहुत दुःखी हूँ मेरा क्या होगा ? आज मेरे दिल में परेशानी हुई तो मैंने सास से कहा कि मुझे सवारी में बैठाकर सत्संग में ले चलिए। मेरा मन बहुत

बेचैन है। आज मैं आई तो यह सुनने को मिला। बोली 'सच बताइये, बीमार को भी भगवान मिलते हैं ?' मैंने कहा, 'हाँ, जरूर मिलते हैं' 'कैसे मिलते हैं?' तो सत्संग में जो सुनाया था उसे फिर दुहरा दिया कि वे सर्वसामर्थ्यवान हैं, तुम उनकी शरणागति ले लो, उनको अपना मानो। वे बहुत ही आश्वस्त हो गईं। कहने लगीं "मैं मरने की सोच रही थी। अब नही मरूँगी, भगवान मुझको मिल सकते हैं।" आप सच कहती हो, मिल सकते हैं। मैंने कहा हाँ सच कहती हूँ। उसके बाद वह निश्चिंत होकर चली गयी। तीन बरस बाद फिर मिली । खूब तन्दुरुस्त हो गई थी और आकर उसने कहा कि मुझको जीवन मिल गया, शरीर भी ठीक हो गया सास, पति की सेवा भी बन रही है और प्रभु की कृपा का भी आश्रय हो गया । तो सत्संग का प्रभाव मैंने ऐसा देखा है अपने लिये भी और दूसरों के लिये भी।

जिस समय आप बैठे हैं सत्संग में, चर्चा सुन रहे हैं, सुनते-सुनते उसी समय आपके भीतर का द्वन्द्व मिटना चाहिये। शंकाएँ दूर होनी चाहिये।

अब जिस बात को ग्रहण करना है उसको देखिये। सामाजिक और पारिवारिक व्यक्तियों को धर्मपरायणता पर विशेष ध्यान देना चाहिये। धर्मपरायणता का अर्थ क्या है ? कर्त्तव्यनिष्ठ होना। कर्त्तव्यनिष्ठ का मन्त्र क्या है ? कि मेरे द्वारा मन से, वचन से, कर्म से किसी भी प्रकार से किसी को कष्ट न पहुँचे। आराम कितना पहुँचेगा, यह तो प्रकृति के विधान पर है कि आप रास्ते पर चलते हुए प्यारे व्यक्तियों को जल पिला देंगे, कि जगह-जगह प्याऊ बैठा देंगे। यह तो अलग-अलग सामर्थ्य की बात हो गई। तो आराम कितना पहुँचायेंगे, यह आपकी वर्तमान सामर्थ्य पर निर्भर है।

लेकिन धर्मपरायण, कर्त्तव्यपरायण होने का एक अचूक मन्त्र जो सभी भाई-बहन ग्रहण कर सकते हैं, वह यह है कि मन से, वचन से

कर्म से, हम किसी को क्षति नहीं पहुचायेंगे। अगर किसी के प्रति बुराई आपके जीवन में नहीं रह गई तो केवल भलाई रह जायेगी। बुराई मिट सकती है। अगर मनुष्य होने के नाते हम सभी धर्मपरायण होना प्रसन्द करें तो।

मनुष्य के जीवन का विज्ञान पढ़ते समय एक पाठ पढ़ाया जाता था How life begins जीवन आरम्भ कैसे होता है ? उसी तरह से सन्त के पास बैठकर साधना का एक बड़ा बढ़िया क्रम सीखा मैंने। उन्होंने बताया कि अगर तुम मनुष्य हो, पारिवारिक व्यक्ति हो, सामाजिक व्यक्ति हो तो जब तुम्हारी आँखें खुलती हैं, तब सामने परिवार और समाज दिखाई देता है तो पहला विचार तुम्हारे भीतर यह उठना चाहिये कि हम किस प्रकार समाज व परिवार के लिये उपयोगी हो सकते हैं ? यह पहला लक्षण है। कैसे हम दूसरों के काम आ सकते हैं ? बाल बच्चों के काम आना, पति-पत्नी को एक दूसरे के काम आना, माता-पिता के काम आना, भाई-बन्धुओं के काम आना-अगर दूसरों के काम आने का विचार आपका है और दूसरों के लिये उपयोगी होने का विचार आपका है और सभी के प्रति अपनेपन का भाव आपका है तो कर्तव्यनिष्ठा सिद्ध हो जायेगी।

जो व्यक्ति अपना अधिकार त्याग कर दूसरों के प्रति कर्त्तव्य का पालन करते हैं उनमें संसार की ओर से विरक्ति अपने आप आ जाती है। कर्त्तव्यपालन से सुखभोग की इच्छा का नाश होता है। करके देखो। आज अपनी दशा क्या है ? कि जहाँ हम परिवार और समाज के काम आने का अवसर देखते हैं तो उस पर ध्यान नहीं देते और व्यक्तिगत साधना की बात सूझती है। आलस्य को पालते हैं। तरह तरह की बातें कहकर परिवार को, समाज को समझाते हैं और फिर जब विरक्ति नहीं आती सुखभोग की वासना भीतर-भीतर तंग करती है, तो परेशान होते हैं कि साधना सजीव कैसे बनें? नहीं बनती है।

कर्त्तव्यनिष्ठ व्यक्ति की आवश्यकता संसार को रहती है। धर्मात्मा पुरुष की जरूरत संसार अनुभव करता है। छोटे से छोटा काम अगर अच्छी तरह से करने वाला कोई व्यक्ति हो तो उसकी जरूरत समाज के सभी लोग अनुभव करते हैं। धर्मपरायण पुरुष की आवश्यकता संसार को रहती है। और जो धर्मपरायण हो जाता है, उसको अपने लिये संसार की आवश्यकता नहीं रहती है। उसके भीतर संसार से ऊपर उठने की सामर्थ्य आ जाती है। उसके भीतर शरीरों की पराधीनता से मुक्त होने की सामर्थ्य आ जाती है। कितनी बड़ी बात हो गई। क्या-क्या विधि-विधान तुमने किया साधना के नाम पर ? कितना उपवास किया? कितना अनुष्ठान किया? यह सब कुछ जरूरी नहीं है। ये सब करो तो बढ़िया बात है। तुमसे हो सके तो अच्छा है। लेकिन बुराई रहित हो करके, समाज के प्रति, परिवार के प्रति अपने कर्त्तव्य का पालन करो तो तुम्हारी आवश्यकता संसार को रहेगी और जिस व्यक्ति की आवश्यकता संसार को रहती है, उस व्यक्ति को अपने लिये चिन्ता नहीं करनी पड़ती है। उसके शरीर की रक्षा, उसकी जरूरतों की पूर्ति समाज खुद ही करता है। उसको सँभालता है। तो ऐसे ही वह Free हो गया, स्वाधीन हो गया, और कर्त्तव्यपरायणता, धर्मपरायणता के फलस्वरूप उसमें स्वयं में इतनी सामर्थ्य आ जाती है कि उसे अपने लिये संसार की आवश्यकता नहीं रह जाती। क्या होगा? आप सोचते होंगे कि क्या उसको अब भूख लगना बन्द हो जायेगा ? या प्यास लगना बन्द हो जायेगा ? या कपड़े की जरूरत खत्म हो जायेगी ? सो नहीं। भोजन, पानी, वस्त्र और दवा-ये तो समाज अपने आप ही उस पर बरसाएगा। शरीर के बनाए रखने की जरूरत खत्म हो जाएगी। कितनी बड़ी बात हो गई। बरसों तक आपने मन को बस में करने का अभ्यास किया। मन को ऐसे वश में करो और ऐसे चित्त को वश में करो व ऐसे इन्द्रियों को वश में करो। ठीक है भाई ! इनको वश में करना तो है ही, इनके प्रभाव में पड़ना नहीं है। लेकिन यह सब करते करते

भी अगर परहित की भावना को लेकर, बुराई रहित होकर, असाधन को छोड़ कर आपने कर्त्तव्यनिष्ठता नहीं अपनायी, कर्म-परायणता नहीं अपनाई तो सफलता में बहुत देर लग जायेगी।

भौतिक दृष्टि से भौतिक जगत् के साथ सही व्यवहार नहीं करने से भौतिक जगत् की पराधीनता भीतर से नहीं निकलेगी। बाहर से तो जगत् जैसा है वैसा ही है। उसमें कोई फर्क नहीं होता। शरीर का स्वरूप जैसा है वैसा ही है। उसमें कोई अन्तर नहीं आता। अन्तर आता है साधक में स्वयं में। एक समय था जब वह आँखों से सुन्दर दृश्य देखे बिना नीरसता अनुभव करता था। एक समय आता है जब उसे ज्ञान के प्रकाश में सभी दृश्यों में परिवर्तनशीलता दिखाई देती है और वह सबकी ओर से उपराम हो जाता है। सन्त कबीर ने कहा-

"हाड़ जले जैसे लकड़ी; केश जलें जैसे घास।
सब जग जलता देखकर कबिरा भया उदास।।

काल की अग्नि में सारा निर्माण विनाश की ओर चला जा रहा है। यह देख कर वही मनुष्य जो ज्ञान के प्रकाश में जगत् की परिवर्तनशीलता, नश्वरता को देखता है, तो सबसे उपराम हो जाता है। प्रभु की प्रीति से भर जाता है। 'जित देखूँ तित श्याममयी है।' जहाँ-जहाँ दृष्टि पड़े वहाँ-वहाँ प्रीतम खड़े हैं। उसकी प्रीति भरी दृष्टि का आदर करने के लिये वे परम प्रेमास्पद, रस-स्वरूप परमात्मा अपने जगत् रूप को छिपा करके प्रेमास्पद के रूप में प्रकट हो जाते हैं। दोनों के बीच में प्रेम के आदान-प्रदान का अनन्त विहार चलने लगता है।

मनुष्य तो वही है। उसने वासनाओं की दृष्टि से जगत् की ओर देखा तो कितनी पराधीनता में आबद्ध हो गया। उसने सत्य की दृष्टि से संसार की ओर देखा तो सबके बन्धन से मुक्त हो गया। उसने प्रीति भरी दृष्टि में जगत् की ओर देखा तो 'जित देखूँ तित तू ही तू।' ये सभी बातें हमारे जीवन की हैं। आप ही में होने वाली हैं। और किसी

को इनकी आवश्यकता नहीं है। परमात्मा सब प्रकार से पूर्ण हैं। उनको जरूरत है नहीं। जड़ जगत् प्रकृति के नियम पर चल रहा है, उसको जरूरत नहीं है। हम ही लोग एक अनोखे शरीरधारी इस समग्र सृष्टि में हैं कि कभी संसार के क्षणिक सुखों के लालच में पड़ करके अपनी दुर्दशा कर लेते हैं। और वही मनुष्य संत्सग के प्रकाश में साधक बनकर साधना के माध्यम से अनन्त आनन्द-स्वरूप, अनन्त प्रेम-स्वरूप साध्य से अभिन्न हो जाता है।

(62)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहनो और भाइयो !

सन्तवाणी में हम लोगों ने बहुत ही आवश्यक बातों को सुना। पहली बात तो यह है कि काम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये। यह बहुत आवश्यक बात है। काम करने से विश्राम मिलता है और विश्राम मिलने से जीवन मिलता है। बड़ा सुन्दर क्रम है।

दूसरी बात महाराजजी ने सुझाई हम लोगों को, कि भौतिक दर्शन के आधार पर ऐसा मानो कि सभी अपने हैं। आध्यात्मिक दर्शन के आधार पर यह जानो कि त्रिकाल में भी किसी से तुम्हारा नित्य सम्बन्ध नहीं है और इसमें सिद्धि होने पर क्या होता है ? कि एक के अतिरिक्त और कुछ कभी हुआ नहीं, है नहीं, होगा नहीं। अर्थात् ईश्वरवाद की दृष्टि से यह मानो कि प्रभु के नाते सभी अपने हैं। आत्मा के नाते सभी निजस्वरूप हैं, अथवा एक के अतिरिक्त कोई है ही नहीं और ईश्वर के नाते सभी प्यारे के प्यारे हैं। सत्य के आधार पर हम लोग अपना यह दृष्टि कोण रखें तो भेदभाव नहीं रह सकता, राग-द्वेष नहीं रह सकता, लेकिन न भौतिक दृष्टि मानो, न आध्यात्मिक

दृष्टि मानो, न आस्तिक दृष्टि को मानो, तब तो असाधन की दृष्टि रह जायेगी ; और दो चार लोग अपने मालूम होंगे, बाकी पराये मालूम होंगे तो राग-द्वेष की अवश्य उत्पत्ति होगी। राग-द्वेष की उत्पत्ति से जीवन का रस सूखेगा ही। जीवन में नीरसता आयेगी तो कामनाओं की उत्पत्ति होगी ही और उसमें हमारा वश नहीं चलेगा, तो लोभ, क्रोध, मोह, मृत्यु आदि में से हम लोगों को गुजरना ही पड़ेगा।

तीसरी बात उन्होंने कही कि ईश्वर विश्वासी के जीवन में फिर अन्य विश्वास नहीं रहता है, अन्य सम्बन्ध भी नहीं रहता है। अन्य सम्बन्ध और अन्य विश्वास आपने त्याग दिया तो फिर कोई अन्य चिन्तन भी मस्तिष्क में नहीं आयेगा। यह आपके लिये एक बहुत काम की बात है। प्रायः भाई-बहन इन समस्या में उलझे रहते हैं, परेशान रहते हैं, प्रश्न करते ही रहते हैं। अब सोच करके देखिये, एक ऐसा विश्वास, जो सत्य पर आधारित है, यह है कि परमात्मा सत्य है। और जो सत्य नहीं है उसको परमात्मा कहेंगे ? नहीं कहेंगे। तो हमारी आपकी, सबकी मानी हुई बात है, कि परमात्मा सत्य है। इसलिए परमात्मा के प्रति जो विश्वास होता है वह सत्य पर आधारित विश्वास होता है। वह इतना जोरदार होता है कि दूसरे सारे विश्वास उसमें विलीन हो सकते हैं। जो ईश्वर में विश्वास कर लेता है उसका ईश्वर से सम्बन्ध बन जाता है। जो नित्य सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने से दूसरे सारे सम्बन्ध उसमें विलीन हो सकते हैं । यही बहुत बढ़िया बात है। मनुष्य को आराम देने वाली चीज है, कि विश्वास किये बिना रहा नहीं जाता तो अनन्त परमात्मा में ही विश्वास करो और कोई विश्वसनीय है नहीं।

सर्व उत्पत्ति जो है उसमें से थोड़े से दृश्य हम लोगों ने देखे । सारी सृष्टि को कोई एक आदमी देख नहीं सकता। थोड़ा-सा हम लोगों ने देखा, तो यह दृश्य जगत् जो हम लोगों के सामने दिखाई दे

रहा है, इस देखे हुए, सुने हुए और बुद्धि के आधार पर जाने हुए जगत् के अतिरिक्त, इससे परे, इसका मूल उद्गम जो है, उसी को विश्वासीजनों ने भगवान कहा। तो उनके साथ जिसने आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार किया, उसके लिये स्वाभाविक बात है कि वह अन्य सारे विश्वासों को उसी में विलीन कर दे। अब आप मनुष्य के सम्बन्ध को देखिये। पति-पत्नी दो हैं। अब इन दोनों के बीच अगर सन्तान नहीं है तो सन्तान की कमी ये लोग आपस में एक-दूसरे से पूरी नहीं कर सकते। पति है तो पति ही होकर रह सकता है, पत्नी पत्नी ही होकर रह सकती है, वह पुत्र नहीं बन सकती। तो पुत्र की कमी उनको खटकती ही रहेगी, पुत्री की कमी खटकती ही रहेगी । माता-पिता हैं तो वे केवल माता-पिता ही होकर रह सकते हैं। पिता जो है वह भाई भी बन जाये, सबकी कमी पूरी कर दे-ऐसा कोई सम्बन्धी इस संसार में नहीं मिलेगा, जो आपके साथ सारे सम्बन्धों के भाव अपने में जोड़ दें।

अब दूसरी स्थिति देखो। जीवन में कमी खटक रही है, बुरा लग रहा है। घर सूना लग रहा है। क्या हो गया ? कहीं पिता नहीं है तो कहीं माता नहीं है, कहीं पति नहीं है तो कहीं पत्नी नहीं है, कहीं बेटा नहीं है तो कहीं बेटी नहीं है, कहीं कुछ नहीं है। ऐसे बहुत खटक रहा है। तो आप देखिये, कि एक हिस्सा अगर कम हो गया तो बाकी जितने भी सम्बन्धी हैं आपके सारे के सारे मिलकर आपको भरपूर कर देना चाहें, कमी को भर देना चाहें तो नहीं भर सकेंगे। कितनी बार मैंने बहुत दर्द-भरी कथाएँ अपनी माताओं से, बहनों से सुनी हैं। स्वामीजी महाराज ने इस काम के लिये मुझको लगा दिया था कि माताएँ पुरुष शरीर वाले सन्त के पास जाती हैं, दिल खोलकर सब बातें नहीं कह सकतीं तो तुम बैठो, तुम सुना करो। मैं सुनती रहती। तो पीहर भी भरा है, ससुराल भी सब भरा है। बहुत लोग हैं, बहुत धन है, बहुत कुछ है और अगर पति नहीं है तो उस स्त्री का जो दुःख है, वो सारा कुटुम्ब,

पीहर, ससुराल के सब मिल करके भी मिटा नहीं सकते । यह है संसार का हाल ! परमात्मा का हाल देखो। जिस किसी ने उस सर्वसमर्थ में विश्वास किया, उसके लिए वह अकेला ही सब कुछ और सबसे अधिक हो जाता है। उससे सम्बन्ध मानने के बाद, उसके प्रति प्रियता जाग्रत होने के बाद लोक-परलोक की, जन्म-जन्मान्तर की सब समस्यायें खत्म हो जाती हैं।

सब कुछ देकर वह आपको भरपूर कर सकता है। एक उस नित्य सम्बन्धी से सम्बन्ध को स्वीकार कर लेने के बाद भक्तों के लिये बड़ा सहज हो गया और उन्होंने सारे सम्बन्धों को उसमें विलीन कर दिया । सब उसमें समाहित हो गये। जिसके सारे सम्बन्ध एक नित्य सम्बन्ध में विलीन हो गये, जिसके अन्य सब विश्वास एक प्रभु विश्वास में विलीन हो गये, उसके जीवन में फिर और किसी का चिन्तन कभी नहीं होता है। और आप चाहते क्या हैं ? यहाँ जितने भाई-बहिन बैठे हैं, ईश्वर में विश्वास करने वाले ही ज्यादा होंगे। वे चाहते क्या हैं ? चाहते तो यही हैं कि हमारे मन में से अन्य चिन्तन सब निकल जायें और प्रभु की याद निरन्तर बनी रहे। ऐसी अभिलाषा है कि नहीं है ? तो स्वामीजी महाराज ने उपाय बता दिया। ईश्वर विश्वास करो तो अन्य सारे विश्वास उसी में विलीन कर दो और विश्वास के आधार पर ईश्वर से सम्बन्ध को स्वीकार करो, तो अन्य सम्बन्ध उसमें विलीन कर दो, फिर कोई अन्य चिन्तन नहीं रहेगा।

संसार के चिन्तन से आप मुक्त होना चाहते हैं तो भाई, संसार जिसका है उसको दे दो न। मुझे तो मजा आ जाता है जब मैं यह कहती हूँ , हे प्रभु ! तुम्हारी सृष्टि तुम्हें मुबारक हो ? वह तो है ही उनकी, उसको सँभालते भी वे ही हैं । मेरी बेईमानी है कि उसमें से दो-चार व्यक्तियों को अपना मानकर अपनी आसक्ति में उनको बाँध लेती हूँ। अपनी ममता में उनको बाँध लेती हूँ। उनकी भी जिन्दगी

पलीत होती है, अपनी भी बरबादी होती है। बहुत सीधा-सादा उपाय है। हमेशा इस प्रश्न को लेकर साधक न जाने कितने-कितने वर्षों तक उलझे रहते हैं। क्योंकि जहाँ कहीं भी भगवत् भजन के सम्बन्ध में चर्चा आयी है, सद्ग्रन्थों में अथवा सत्पुरुषों ने बताई है, सब जगह पर यह बात लिखी हुई है कि भगवान का निरन्तर भजन करो, और आप क्या करते हैं ? कि २३-२३ घण्टे पर, साढ़े तेईस घण्टे के अन्तर पर आधे घण्टे के लिये बड़ी तैयारी से, याद करने बैठते हैं तो याद भी पूरी नहीं हो पाती है। रोते रहते हैं, क्या करें, संसार का चिन्तन नहीं छूटता। भूतकाल के भोगे हुए सुखों का चिन्तन नहीं छूटता। यह एक नई बीमारी हम लोगों ने पैदा की है अपने में। जो समय हमारा जगत् की सेवा में गया वह तो सार्थक हो गया। लेकिन सेवा भी नहीं कर रहे हो, काम भी नहीं कर रहे हो और आराम भी नहीं मिल रहा है। उस समय जो जीवनी शक्ति खर्च हो रही है वह तो व्यर्थ हो गई ना। प्राणशक्ति का अपव्यय हो गया।

प्राण शक्ति का सद्व्यय कब हुआ ? जब आप राग-निवृत्ति की दृष्टि से, प्यारे प्रभु की प्रीति की वृद्धि की दृष्टि से, जगत् की सेवा में लगे हुए हैं। माने हुए सम्बन्धियों की सेवा में लगे हुये हैं। भगवत् नाते प्यारे के प्यारों की सेवा में लगे हुये हैं। उस समय जो शक्ति, खर्च हो रही है, वह तो सार्थक हो रही है, क्योंकि प्राण शक्ति खर्च हो रही है और चित्त की शुद्धि हो रही है, अन्तःकरण शुद्ध हो रहा है, राग-निवृत्ति हो रही है, तो अलौकिक तत्त्वों की अभिव्यक्ति की तैयारी हो रही है। उसमें अगर प्राणशक्ति का व्यय हुआ तो सद्व्यय कहलायेगा। अच्छा, अब श्रम का समय (period) खत्म हो गया। उचित परिश्रम जो कि पारिवारिक हित के लिये है, सामाजिक हित के लिए है वह परिश्रम पूरा हो गया। उसके बाद सही काम किया जाता है विश्राम के लिये और विश्राम होता है अपने लिये।

विश्राम की घड़ी में मुझे योगवित् होना नहीं आया, तत्त्ववित् होना नहीं आया, भगवत् भक्ति के रस में अपने को खोना नहीं आया, तो क्या हुआ उस समय ? विश्राम की उस घड़ी में मस्तिष्क में भोगे हुए सुखों का स्मरण हो आया, फिर मरे हुए कुटुम्बियों की याद सताने लगी, छूटे हुए पद के लिये मन में दुःख हो रहा है, गए हुए सुखों की याद आई, बिछुड़े हुए साथियों की याद आई, मिले हुए सामान की याद आई, भुगते हुये अपमान की याद आई, भविष्य की कल्पनायें आ रही हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जिन व्यक्तियों के जीवन में, वर्तमान में सरसता नहीं रहती है उनका मस्तिष्क वर्तमान में टिकता ही नहीं है। एकदम उड़ता रहता है। चाहे भूतकाल में भोगे हुए, सुखों में रमण करेगा और चाहे भविष्य की सुनहरी कल्पना में भ्रमण करेगा। इसी सबको साधक-संत सत्संग की भाषा में "व्यर्थ चिन्तन" कहा करते हैं। भूतकाल के बीते हुये दिनों की याद आई, तो यह भी व्यर्थ चिन्तन है, और भविष्य की कल्पना में आप डूबे हैं, तो यह भी व्यर्थ चिन्तन है। कल्पना तो कल्पना ही है। वर्तमान में अधिक नीरसता रहती है तो भविष्य की कल्पना अधिक काम करती है। और जब बहुत ज्यादा मानसिक कमजोरी बढ़ जाती है, तो आदमी वर्तमान के कर्त्तव्य कर्म करने में असमर्थ हो जाता है और फिर वह दिवा-स्वप्न में डूबा रहता है। अंग्रेजी में उसको day-dreaming कहते हैं। जाग करके बैठा है और भीतर से नीरसता से व्याकुल है तो झूठी-झूठी कल्पनाओं से दिल बहलाता रहता है।

ऐसा एक उदार व्यक्ति आ जायेगा और वह मुझे अच्छा काम दे देगा, उससे धन मिलेगा तो ऐसा मकान बनाऊँगा, तो ऐसा सोचते-सोचते कहाँ से कहाँ चला जाता है। यह एक मनोवैज्ञानिक (psychological) रोग है। इसको day-dreaming अर्थात् दिवा-स्वप्न कहते हैं। वर्तमान में जो नीरसता है, वह मनुष्य को भूतकाल की सुखद

स्मृतियों में फँसाती है अथवा भविष्य की सुनहरी कल्पनाओं में फँसाती है। वर्तमान में उसको रहने ही नहीं देती। उसकी विचार शक्ति इतनी घट जाती है कि वह व्यक्ति बेचारा प्राप्त वस्तुओं का भी उपभोग नहीं कर सकता, अलौकिक जीवन के पुरुषार्थ का तो कहना ही क्या ? ऐसी दशा हो जाती है।

स्वामीजी महाराज इस प्रकार के सभी रोगों का अचूक उपचार हम लोगों का बता रहे हैं। कह रहे हैं कि भाई, अगर तुम नीरसता का नाश करना चाहते हो तो उस रसस्वरूप परमात्मा में विश्वास करो। विश्वास करोगे तो सम्बन्ध बन जायेगा। सम्बन्ध बन जाने का अर्थ यह है, कि जिसमें हमारा विश्वास हो जाता है उसकी याद सब समय आती रहती है, और याद आ गई तो लगाव हो गया और उससे सम्बन्ध बन गया । और तुमने सत्संग के प्रकाश में भक्तों के वचनों को सुन करके सारे सम्बन्ध उसमें विलीन कर दिये। साहस कर दिया न। मीराजी ने कहा, "मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोऊ" दूसरा कोई मेरा नहीं है, दूसरे किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यह कहने का साहस उनको तब हुआ जब उन्होंने 'मेरे तो गिरधर गोपाल' कहा। गिरधर गोपाल मेरे अपने हैं इस निज विश्वास से, इस नित्य सम्बन्ध से उनमें इतना बल आ गया कि सारे संसार से उन्होने अपना सम्बन्ध हटा लिया। कोई मेरा नहीं है और किसी से मेरा सम्बन्ध नहीं है-ऐसा जब कोई व्यक्ति कर लेता है, एक नित्य विश्वास में सारे अनित्य सम्बन्धों को मिटा देता है तो उसके जीवन में से अन्य चिन्तन सदा के लिये खत्म हो जाता है।

अब आप सोच कर देखिये। जिस चिन्तन से बीते हुए सुखद अवसरों की याद आती है, वह चिन्तन आपके वर्तमान की नीरसता की पीड़ा को थोड़ा घटाता है, तो रह-रह करके उसको याद करना आपको अच्छा लगता है। बीते हुए अच्छे दिनों की याद अनेक बार

आती है। मैंने देखा है। घर छोड़ दिया, स्वीकृति बदल दी और कभी-कभी भेष बदले हुये भी मैंने देखा है, ताकि साधक बात करते-करते कहने लग जाता है कि पहले मैं अमुक पोस्ट पर था, पहले मैं ऐसा था, पहले मैं वैसा था।

एक जगह एक व्यक्ति के घर में मैं गई तो उनके घर में एक चित्र लगा हुआ था। बड़ा तगड़ा शरीर दिखाई दे रहा था। उन्होंने कहा, "बेटी, तुम यह चित्र देखती हो, पहचानती हो किसका है ?" बड़े ही वृद्ध सज्जन थे। बाबूजी कहती थी मैं उनको । मैंने कहा, बाबूजी! मैं तो नहीं पहचान सकी हूँ। तो कहने लगे-"यह मैं हूँ।"

बाबूजी यह आपका चित्र है ? "हाँ बेटा, यह मेरा चित्र है। तब मैं इतनी घुड़सवारी करता था, इतना दूध पीता था, इतना दंड-बैठक करता था, इतना काम कर सकता था।"........तब उन्होंने सब पुरानी कथा सुनाई। मनोविज्ञान का अध्ययन किये हुए व्यक्ति को सामने वाले के हाव-भाव पलकों का उठना बैठना, हाथ-पाँव हिलाना, सबका अर्थ अपने आप दीखता रहता है। तो मेरे भीतर ही भीतर बड़ी करुणा उपजी। मैंने सोचा, देखो, वर्तमान में वह सब बातें नहीं हैं। लेकिन वर्तमान की नीरसता इनको सता रही है। शान-शौकत चली गई, रूप चला गया, पद चला गया, नौकर-चाकर चले गये, बाहर से सुख देने वाली सब सामग्री अब खत्म हो गई है। अब वृद्धावस्था की असमर्थता को भुगत रहे हैं तो इस वर्तमान दयनीय दशा की पीड़ा को ढकने के लिये पुरानी बातों को दुहरा रहे हैं । मैंने मन ही मन कहा। हे प्रभु ! दया करो इस वृद्ध पुरुष पर। अभी भी इसका ध्यान आपकी ओर चला जाये तो अपना गौरव कितना बढ़ जाये।

मैं किसी बड़े मिनिस्टर का भाई हूँ, यह कहने में तो आदमी की इज्जत मेरी दृष्टि में घटती है और यदि वह कहे कि मैं तो त्रिलोकीनाथ का बालक हूँ तो इज्जत बढ़ती है ? फिर उस सम्मान को घटाने की

कोई बात दुनिया में कभी होगी ? जी ? नहीं होगी। तुलसीदासजी ने विनय पत्रिका में, कवितावली में कितने पद लिखे हैं। बड़ा गौरव है उनको कि मैं कैसा भी तुच्छ हूँ, उससे क्या होता है ? एक पद में उन्होंने लिखा है कि तुम जानते नहीं हो कि मैं उनके गोत्र का हूँ। अब मुझसे क्या पूछोगे कि तुम्हारी क्या दशा है ? जन्म लेने के बाद जल्दी ही माता-पिता मर गए और द्वार-द्वार की ठोकरें खाता फिरा, जाति-कुजाति सबकी रोटियाँ मैंने खाईं। लेकिन उससे क्या हुआ। भगवान का जो गोत्र है, सो ही सेवक का गोत्र है। तो मेरे गोत्र का गौरव कभी घट सकता है ? मेरा सेवक पद कभी जा सकता है ? उसके बाद भी कोई कमी रह सकती है ?

इस जीवन में अखण्ड आनन्द का भण्डार भरा है। अनन्त रस का स्रोत भरा है और छोटी-छोटी बातों के लिये हम प्यासे-प्यासे फिर रहे हैं ? संसार में कितनी ठोकरें खाते हैं, कितना अपमान सहते हैं और दूसरों को तो छोड़ दो। समाज फिर भी उदार है। मैं तो देखती हूँ जगह-जगह पर, माता-पिता किस प्रकार पुत्रों और पुत्र वधुओं के वश में पड़कर के अपमान सहते-रहते हैं, दुःखी होते रहते हैं, कोई रास्ता नहीं सूझता है। बड़ी दया आती है देखकर मुझे। क्या हो गया मनुष्य को ? क्यों इतने दीन-हीन होकर समय बिता रहे हो ? सत्संग के प्रकाश में अपने लिये रास्ता निकालो। बना बनाया रास्ता है। अनेकों महापुरुषों ने अपने जीवन में शोध किया। अपने पर सत्य का प्रयोग किया, उनका दुःख मिट गया, उनकी पराधीनता मिट गई, उनकी नीरसता मिट गई। अलख, अगोचर, परमात्मा उनका अपना सगा सम्बन्धी हो गया, प्रत्यक्ष हो गया। उन लोगों ने अपनी सब बातों को हम लोगों के सामने रख दीं । खोज करने की बात तो है नहीं। अब इतनी-सी बात है कि जो बने-बनाए मार्ग हैं, जो सिद्ध साधन प्रणालियाँ हैं उनमें से जो अपने लिये उपयुक्त मालूम हो उसको अपना करके हम

लोग चल पड़ें। इतनी-सी बात है।

अब आप देखिये, व्यर्थ चिन्तन के नाश के लिये आदमी कितना थकता रहता है। स्वामीजी महाराज इतनी सीधी-सादी बात कह रहे हैं कि भाई, सम्बन्ध नहीं मानोगे तो चिन्तन नहीं होगा। उन सज्जन ने प्रश्न किया था कि मैं आत्मीयजनों के चिन्तन से मुक्त कैसे होऊँ ? स्वामीजी ने कहा कि भाई, दो ही वस्तुओं का चिन्तन आता है तुम्हारे दिमाग में। संसार के इतने सारे बच्चे भरे पड़े हैं, किसी का चिन्तन तुम्हारे दिमाग में नहीं आता है तो सबसे तो मुक्त हो ही। महाराज जी ने कहा कि इन दो पोतियों को छोड़ करके, बाकी सारे बच्चे जो दुनिया के हैं सबके चिन्तन से तो तुम मुक्त ही हो। तो यह उदाहरण हम सभी भाई-बहिनों पर भी लागू होता है। दुनिया में इतने असंख्य शरीरधारी व्यक्ति भरे पड़े हैं। सबके चिन्तन से हम लोग मुक्त हैं। तो बद्ध कहाँ हो गये ? कैद कहाँ हो गये? दो चार गिने गिनाये व्यक्तियों से ममता का सम्बन्ध मान लिया। मोह का सम्बन्ध मान लिया, देह की आसक्ति मान ली। उनसे सुख की आशायें कर लीं, उनके दिये सुखों के संयोग का भोग कर लिया तो वहीं पर बद्ध हो गये। कहने के लिये हम लोग कहते हैं कि संसार का चिन्तन सता रहा है। लेकिन सारा संसार नहीं आता है सताने। संसार का दोष इसमें नहीं है। दो-चार व्यक्तियों के साथ मैंने अपने को ममता की रस्सी में बाँध दिया तो उन्हीं का चिन्तन सताता है। उनके चिन्तन से मुक्त होने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। कितना भी आँख बन्द करो, कान बन्द करो, गुफा में घुस जाओ, जंगल में चले जाओ। स्वामीजी महाराज कहते हैं कि सातवें आसमान में कुटिया बना लो, चाहे धरती खोद कर जमीन के भीतर दब जाओ। चिन्तन से मुक्त होने का दूसरा उपाय नहीं है।

गंगा के तट पर सत्संग मास चल रहा था, पुरुषोत्तम मास पड़ा होगा एक दिन बड़ा हल्ला हुआ कि एक महाराज आए हैं जो भूमि के

अन्दर रहेंगे। उनके लिए गड्ढा खोदा जा रहा है। महात्माजी बैठे हैं गंगाजी के तट पर। स्वामीजी महाराज का हृदय तो माँ की तरह था। करुणा से द्रवित हो जाते थे। पूछा- "क्या-क्या होगा ?" तो "कुछ नहीं, कुछ नहीं महाराज ! वह तो जमीन के भीतर बैठ जाएँगे और उनको ऊपर से बन्द कर दिया जायेगा और वे खाएँगे, पीएँगे नहीं।" उसके बाद हम लोगों ने सुना कि वे बन्द हो गए।

सारे सम्बन्धों को आप विवेक के प्रकाश में अस्वीकार कर सकते हैं। भगवत् सम्बन्ध की स्वीकृति और नाशवान् जगत् के साथ माने हुए सम्बन्धों की अस्वीकृति-यह धरती की बात है कि आसमान की बात है ? गुफा की बात है कि हवा की बात है ? यह तो लौकिक जगत् की बात ही नहीं है। शरीर के द्वारा यह सम्भव ही नहीं है। अगर असत्य की अस्वीकृति एवं सत्य की स्वीकृति-इस रूप में आप सत्संग नहीं करते हैं, तो शरीर को लेकर के कहीं भी चले जाइये। Challange है कि संसार का चिन्तन छूट जाये। नहीं छूटेगा। बलपूर्वक अभ्यास करके थोड़ी देर के लिये संसार के चिन्तन को रोका जा सकता है। तो साइकोलोजिस्ट कहते हैं कि अगर जबरदस्ती करके मन के चिन्तन को रोकोगे तो क्या होगा ? कि अचेतन स्तर में जाकर दिन-दूना रात-चौगुना बढ़ता चला जायेगा। उसका नाश नहीं होता है। प्रकृति की सहायता हम लोगों को है कि हमने भूल से जो बातें भीतर जमा कर ली हैं मौका मिलते ही वह सब प्रकट होने लगती हैं। आप सब लोगों का अनुभव है, लोग कहते हैं मुझसे कि देवकीजी, काम करते समय तो पता नहीं चलता है और चुप होते ही भीतर से एकदम तूफान उठता है, तो ऐसा क्यों होता है? ऐसा होता है आपकी सेवा के लिये। ऐसा होता है आपकी सहायता के लिये। आपने consciously याने इरादा करके काम करना छोड़ दिया तो Unconscious level पर अर्थात् अचेतन मन में भरे हुए कूड़े-कबाड़े को प्रकृति निकाल-निकाल

कर फेंकना शुरू करती है। इससे आप घबरा जाते हैं। कहते हैं, जरा-सा चुप बैठो तो भीतर तूफान बन गया। वह तूफान मिटेगा कैसे ? थोड़ी देर के लिये आप भजन करते हैं, कहते हैं, भजन से शान्ति मिली। जरूर शान्ति मिली। जो शान्ति स्वरूप परमात्मा है, उस परमात्मा का भजन करेंगे तो आपको शान्ति क्यों नहीं आयेगी ? जरूर आयेगी। लेकिन, भजन करने के बाद उठे वहाँ से और दूसरे-दूसरे काम में लगे तो क्या हुआ ? तब तो फिर से अशान्ति मन में आ गई। क्यों आ गई भाई ? यह दुबारा क्यों आ गई ? इसलिए आ गई कि जिससे सम्बन्ध मानने के कारण अशान्ति पैदा हुई है उसके सम्बन्ध को आपने इन्कार नहीं किया। उसे तोड़ा नहीं है। ऊपर से शान्ति के उपाय करते जाओ और भीतर अशान्ति का कारण बना रहेगा, तो नई-नई अशान्ति पैदा होती ही चली जायेगी।

इसलिये महाराजजी कहते हैं कि जब तुम्हारे हृदय से माने हुए प्रभु सम्बन्ध के फलस्वरूप वर्तमान में तुम्हारे जीवन में सरसता आएगी तो उस रस की निष्पत्ति मात्र से नीरसता कट जाऐगी। जीवन में रस बढ़ता है तो नीरसता खत्म हो जाती है। तो फिर तुम्हारे भीतर नई कामनायें पैदा नहीं होतीं। निष्कामता की भूमि में ही पूर्णता निहित है।

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी, सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी

कृपा से, मानव-मात्र को, विवेक का आदर तथा

बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य

प्रदान करें, एवं

हे करुणासागर !

अपनी अपार करुणा से, शीघ्र ही, राग-द्वेष का

नाश करें। सभी का जीवन, सेवा

त्याग प्रेम से परिपूर्ण

हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

मूल्य Rs 30 —

३००० प्रतियाँ
सितम्बर–१९९७